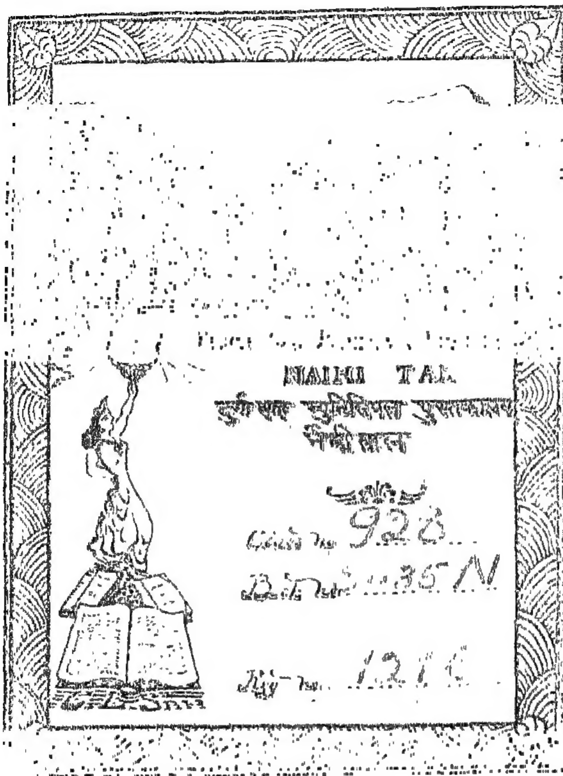

NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
928
35 N

सुमित्रानन्दन पन्त

[परिवर्द्धित एवं संशोधित तृतीय संस्करण]

लेखक

प्रो० नगेन्द्र एम. ए.

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

मूल्य २)

दो शब्द

इस पुस्तक में संकलित विषयों के कुछ अंशों को मैं श्री नगेन्द्रजी के मुख से सुन चुका हूँ। उन्होंने पर्याप्त अध्ययन एवं मनन के पश्चात् अत्यन्त सहृदयता के साथ मेरी रचनाओं के गुण-दोषों का विवेचन किया है। अपने प्रयास में उन्हें कहाँ तक सफलता मिलती है इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। मुझे इतना ही कहना है कि उन्होंने मेरे साथ काफी सहानुभूति रखी है। उनके दृष्टिकोण से अपनी रचनाओं के गुण-दोषों को परखने का अवसर पाकर मुझे आनन्द मिला और अपनी कमजोरियों को समझने में सहायता मिली, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। श्री नगेन्द्रजी स्वयं भी कवि हैं। अपने कवि-हृदय के माधुर्य से मेरे काव्य को और भी सुन्दर बना कर यह पाठकों के सामने प्रस्तुत कर स[illegible]।

पन्त

विषय-सूची

उत्तरार्द्ध

सुमित्रानन्दन-पन्त

छायावाद

कवि—श्री महादेवी वर्मा के सारगर्भित शब्दों में 'मनुष्य में जड़ और चेतन एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का अंग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का……।' अनुभव का साधन इन्द्रियाँ ही होने के कारण स्वभावतः वह पार्थिव एवं स्थूल की ओर सरलता से आकर्षित हो जाता है। ऐसा अज्ञानरूप में प्रकृति के अनुरोधमात्र से ही होता रहता है और शनैः शनैः जब यह स्थूलोपासना एक निर्दिष्ट सीमा तक पहुँच जाती है तो मनुष्य का चिरप्रसुप्त चेतन एक साथ एक ठेस खाकर विद्रोह कर उठता है। यह विद्रोह सर्वकालीन एवं सार्वदेशिक है। भारत के भिन्न-भिन्न युगों एवं संसार के सभी देशों का साहित्यिक इतिहास इसका साक्षी है। अनादि काल में—उस धुंधले समय में एक बार जब स्थूल-कर्मकाण्ड ने देश को अभिभूत कर लिया था, [illegible] का विद्रोह 'तदेजति तन्नैजति' के रूप में [illegible] इसके [illegible] फिर एक बार शाक्त और शैवों के [illegible] का [illegible] हो जाने पर भगवान् बुद्ध के [illegible] वैराग्य द्वारा सूक्ष्म ने [illegible] सिद्धों का [illegible] ज्ञान और वैराग्य [illegible] और [illegible] भागवत धर्म [illegible] तो कबीर के आत्म-तेज ने [illegible] को

भस्मसात् करके उसके द्वारा आच्छादित सूक्ष्म स्पन्दन का अनुभव कराया, और अन्त में जब द्विवेदी-युग में कविता उपयोगितावाद और भौतिकता की तुष्टि का एक मात्र माध्यम बन कर केवल सुधार-उपकरण ही रह गई तो भावुकता ने पुनः एक नये रूप से विद्रोह खड़ा किया। यूरोप में भी समय-समय पर ऐसे काण्ड उपस्थित होते रहे हैं जिनमें सबसे मुख्य १९ वीं शताब्दी की जागृति थी, जिसके प्रवर्तक थे रूसो और वाल्टेयर। संक्षेप में जब-जब स्थूल की प्रभुता असह्य होती गई है, तभी सूक्ष्म ने उसके विरुद्ध क्रांति की है। इस क्रांति और इस विद्रोह के प्रोद्भास-रूप जो गान संसार की आत्मा ने उन्मत्त होकर गाये, वे ही छायावाद की कविता के प्राण हैं। सारांश यह है कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप रंग, रूढ़ियाँ आदि सन्निहित हैं। और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टैकनीक का विद्रोह।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य, भावयोग, अनेक-रूपता, कल्पना और विद्रोह इन सभी तत्वों ने मिल कर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरुद्ध काव्य-क्षेत्र में एक नव-जागृति उपस्थित की, जिसको कि विद्वानों ने (कदाचित उपहास करने के लिए) 'छायावाद' का नाम दिया। उनका उद्देश्य इस नाम-करण में चाहे जो कुछ रहा हो, परन्तु महादेवीजी के शब्दों में 'स्वच्छन्द छन्द में चित्रित इन मानव अनुभूतियों का नाम छायावाद बहुत ही उपयुक्त हुआ।' कविवर पन्त ने छाया को 'अविदित भावाकुल भाषा-सी' इसी अर्थ में कहा है।

आजकल अधिकतर मनीषी समालोचकों की यह प्रवृति हो रही है कि वे पहले तो इस स्कूल को धार्मिक रहस्यवादी सम्प्रदाय से एक-रूप कर देते हैं और फिर आधुनिक कवियों की जीवनचर्य्या का उक्त काव्यगत धार्मिकता से सामञ्जस्य न पाकर एक उलझन में पड़ जाते हैं। यदि सहृदय हुए तो इस सामञ्जस्य पर कुछ क्षोभ प्रकट करके ही शान्त हो जाते हैं, अन्यथा वे, उन कवियों की सभी भावनाओं को—भाषा और अलङ्कारों को झूठा घोषित करके ही रुकते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक छायावाद का रहस्यवाद एक अंग तो है, पर्याय नहीं। इसके अन्तर्गत और भी बहुत-सी विचारधाराएँ काम कर रही हैं, जिनका आध्यात्मिकता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। इस कारण यदि हमें अपने बहुत से प्रतिनिधि कवियों में धार्मिकता दृष्टिगोचर नहीं होती है, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। हाँ, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि आजकल अनावश्यक आध्यात्मिकता का आकर्षण कुछ-कुछ दम्भ का रूप अवश्य धारण करता जा रहा है।

सौन्दर्य-भावना (प्रकृति)

अँगरेजी 'रोमान्टिक रिवाइवल' की भाँति लगभग एक-सी परिस्थिति में जन्म ग्रहण करने के कारण आधुनिक छायावाद भी एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नींव सौन्दर्य्य और अद्भुत के मिश्रण पर स्थित है। रीतिकाल का एकान्त सौन्दर्य्य निर्जीव था, रूढ़ियों ने उसे और भी चेतनाहीन तथा भाव-शून्य बना दिया। भारतेन्दु ने अपनी विलास-बाँसुरी में जो देश-भक्ति का मन्त्र फूँका उसमें यथेष्ट जीवन तो था, किन्तु वह हृदय की सह-चारिता न पा सकने के कारण बहुत शीघ्र ही शुष्क और नीरस होगया। इसी समय अँगरेजी के प्रत्यक्ष, एवं बँगला के माध्यम

द्वारा प्राप्त प्रभाव से प्रेरित होकर हिन्दी की चिर-आबद्ध आत्मा ने जिस सौन्दर्य की उपासना की, वह एकान्त अतः निर्जीव नहीं था। उसमें अद्भुत का चमत्कार था। इसी कारण वह चिर नूतनता समन्वित हो गया और उसकी परिधि कन्हाई के मुकुट और राधा की लट तक ही सीमित न रह कर बाह्य और आन्तरिक दोनों संसारों तक विस्तृत हो गई। कमल, कदली, चन्द्र, घाट, पनघट और 'छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया' एवं 'सरद जुन्हइया' का रूढ़िबद्ध आकर्षण आशान्त पड़ गया और प्रकृति के अगणित लीलाक्षेत्र कविता के भी क्रीड़ा-स्थल हुए। अब कवियों के लिए प्रकृति जड़ और मृतक वस्तु नहीं रह गई, उसके अन्दर भावुकता ने एक संवेदनशील हृदय टटोल लिया, जिसका प्रत्येक स्पन्दन मानव-हृदय की धड़कन का प्रत्युत्तर देने लगा—

'बालकाल में जिसे जलद से
कुमुद कला ने किलकाया
तारावलि ने जिसे रिझाया
मृदुस्वप्नों से सुहलाया—
मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुम्बन उलझाया—'

धार्मिक आस्थायें समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य को उस प्रियतम का प्रतिबिम्ब मान कर [illegible] होने लगीं—और आध्यात्मिकता के फेर में न पड़ने वाले कवि भी [illegible] रूप-रंग पर मुग्ध होकर उसकी ओर श्रद्धा और भक्ति नहीं तो, कम से कम, एक विशेष [illegible] भावना लिये हुए बढ़ने लगे। प्रकृति के साधारण से साधारण उपादान भी एक अनिर्वच शोभा और रहस्य से समन्वित जान पड़े। भावुक नैपाली कवि ने पीपल और हरी घास में भी अभूतपूर्व सौन्दर्य ढूँढ़ निकाला—

'जितने भी हैं उसमें कोटर, सब पंछी गिलहरियों के घर।
सन्ध्या को दिन जब जाता ढल, सूरज चलते हैं अस्ताचल,
कर में समेट किरणें उज्ज्वल !
हो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील, कोक।
भर जाता है कोटर-कोटर, बस जाते हैं पत्तों के घर।
घर-घर में आती नींद उतर !'

प्रकृति एक खुला हुआ ग्रन्थ हो गया, जिसका अध्ययन अब प्रत्यक्ष रूप से ही किया जा सकता था। अतः इस युग के प्रकृति-चित्रण सुने-सुनाये नहीं, ये प्रत्यक्ष आँख खोल कर देखे हुए चित्रों की अंकित प्रतिमूर्ति हैं। प्रकृति अब उद्दीपनमात्र न रह गई, वह स्वयं आलम्बन हो गई और कवियों की अन्तर्दृष्टि उसके एक-एक व्यापार का, एक-एक प्रत्यय का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण करने लगी। पन्तजी के प्रकृति-चित्रों में कवि की भावमग्नता के साथ चित्रकार की चित्रकला और वैज्ञानिक की तीव्र दृष्टि का भी संयोग मिलता है। देखिये, आपका सन्ध्या-वर्णन कितना दिव्य है—

'कहो तुम रूपसि कौन !
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केश - कलाप
मधुर - मंथर, मृदु मौन ?

× × × ×

ग्रीव तिर्यक चम्पक-द्युति गात
नयन मुकुलित नत मुख जलजात
देह छवि छाया में दिन, रात
कहाँ रहती तुम कौन ?'

[illegible]

इससे पूर्व [illegible] ऐश्वर्यशाली

अधिपतियों को काव्य का आलम्बन मानते रहे थे। इनका कारण उनकी भक्ति-भावना और पुरस्कार-लोभ के अतिरिक्त एक प्राचीन परम्परा भी थी, जो सदा से कविता का क्षेत्र राज-महल अथवा पुराण-कथाओं तक ही परिसीमित करती आई थी। यह नव जागृति पश्चिम से आई थी—अतः इसमें वहाँ के साम्यवादी विचारों का पूर्ण प्रभाव था और हमारे कविगण काञ्चन में ही कवित्व टटोलते रहने के स्थान पर अब निर्धन कुटी-द्वारों की ओर आकर्षित होने लगे। कविवर सियाराम-शरण के ग्रंथ आर्द्रा, दूर्वादल, विषाद आदि इसके उदाहरण हैं। मानव का सब से बड़ा गौरव उसका मानवत्व है—भाग्य-पीड़ित मूक-जनता की आहों में अब हमारे सहृदय कवि भारती के भव्य गान सुनने लगे। कविवर 'निराला' का 'पछताता पथ पर आता हुआ' भिखारी उनकी भावुकता का मापक है। कामिनी का सौन्दर्य एक विशेष रंग में रँग गया और शिशुओं के भोले आनन में एक अपूर्व रहस्य और शोभा का दर्शन होने लगा—

ओस-बिन्दु की सुषमा लेकर,
फूलों की भोली मुसकान।
देकर उडु-रहस्य का मृदु-रंग
तुम्हें बनाया है द्युतिमान॥
वत्स! तुम्हारे चकित नयन में
किस अतीत की याद विचित्र,
जागृत - सुप्ती के परदे में,
दिखा रही यह धुँधले चित्र!

पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन

इन छायावादी कवियों ने यद्यपि अपने निकट पूर्ववर्ती काल की प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रान्ति उपस्थित की है, परन्तु फिर भी

दूरवर्ती धुंधले रहस्यपूर्ण पुरातन के प्रति इनमें बड़ी श्रद्धा और सम्मान की भावना है। इसका कारण वर्तमान के प्रति असन्तोष ही है। रहस्य-भावना की दृष्टि से भी वह बड़े महत्व का है। अतः विस्मृति के गहन गर्त में पड़ा हुआ हमारा जादू का अतीत इन कवियों की आश्रय भूमि बन गया है। वर्तमान के संघर्ष से व्यथित होकर प्रायः ये उसी अतीन्द्रिय लोक में विचरण किया करते हैं और अपनी प्रतिभा की सर्चलाइट फेंक कर उस अन्धकार-गर्त से विचित्र काव्य-उपादान ढूँढ़ निकालते हैं। वास्तव में हमारा गौरवपूर्ण अतीत इन भावुक कलाकारों के लिए काव्य-सामग्री का एक अक्षय भाण्डार है जिसमें प्रवेश करके वे यथेच्छ रूप से मोती पाते रहते हैं। इस युग के सार्वभौम कलाकार 'प्रसाद' जी की कल्पना का तो वह चिरपरिचित क्रीड़ा-क्षेत्र-सा हो गया है। पुरातन काल की अद्भुत एवं रहस्यपूर्ण विचित्रताएँ इन कवियों के अद्भुत-प्रेम की परितृप्ति करने में बहुत सफल रहीं। पन्तजी उसी पूर्ण पुरातन के लिए व्याकुल होकर कह उठते हैं—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल !
भूतियों का दिगन्त छवि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?

आत्माभिव्यञ्जन (व्यक्तित्व)

रीति-काल के कवियों में आचार्य शुक्लजी के शब्दों में एक बड़ा दोष यह था कि रूढ़ियों के गोरखधन्धे में जकड़ कर उनका व्यक्तित्व पूर्णतया लुप्त हो गया था। व्यक्तित्व की छाप थोड़े-से ही कवियों में कुछ अंश तक मिले, परन्तु अधिकतर रीतिकाल का साहित्य अकर्तृत्व और निर्लिप्तता से पूर्णतया आक्रान्त है। परम्परा का पालन करते रहने से कवियों के व्यक्तिगत भावों और आवेशों को बाहर निकलने के लिए कोई स्थान नहीं था

उनकी भावनाएँ वाह्यालंकार से दब कर वहीं शांत हो जाती थीं। छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था, अतः सब से पूर्व इन कवियों ने जिस प्रवृत्ति को प्रधानता दी, वह थी उन्मुक्त आत्माभिव्यञ्जना। परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटाकर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छन्द है—निर्मुक्त है। रूढ़ियों की क्षीण डोरी उसे बाँध रखने में असमर्थ है। कवि के अपने व्यक्तिगत राग-विराग काव्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं और किसी प्रकार का अनावश्यक संकोच अथवा संयम प्रतिभा के लिए स्वास्थ्य-प्रद नहीं समझा जाता। श्रीमती वर्मा में यह आत्माभिव्यञ्जन बहुत पाया जाता है—यद्यपि उनका अपनापन जीवात्मा का प्रतिनिधि है, परन्तु फिर भी उसमें उनका निजी व्यक्तित्व कम नहीं। उनके सान्ध्यगीत, नीरजा और नीहार तीनों में इसका प्राधान्य है। श्री भगवतीचरण वर्मा एवं बच्चनजी की आवेश-प्रधान कृतियाँ भी इस अहम्भाव से मुखरित हैं।

बच्चनजी के 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा'—'कवि की निराशा' आदि गीत इसके प्रबल उदाहरण हैं। 'वृद्ध जग को क्यों अखरती है भला मेरी जवानी' में बच्चनजी ने कितना व्यक्तिगत प्रहार किया है! भगवतीचरण वर्मा भी 'मेरी आग' में कहते हैं—

जल रह, जल अरी धधक रह, महानाश-सी मेरी आग!

नीति-विद्रोह

जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है कि छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों

में भी है और शैली एवं कला में भी। विचारों के क्षेत्र में सबसे पहिले मानसिक स्वातन्त्र्य का नैतिक बन्धनों के प्रति विरोध हुआ और इस युग के कुछ स्वच्छन्द कवियों ने नीति एवं धर्म की बेड़ियाँ तोड़ने का प्रयत्न भी किया। 'नवीन' जी एक साथ कह उठे—

यों भुजकर हिये लगाना है क्या कोई पाप?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप-कलाप!

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने भी 'तारा' में धर्म की अपने ढंग से व्याख्या की है। इधर बच्चनजी का फारसी रंग में रँगा हुआ हालावाद भी इसी भावना का प्रतिफलन है—उन्होंने भी अपनी मधुशाला को मन्दिर और मसजिद से ऊँचा स्थान दिया है। यही विद्रोह असफल होकर जब निराश हो जाता है, तो इसका रूप बड़ा भयंकर और विकराल हो जाता है और चारों ओर से ठुकराये हुए कवि की आत्मा प्रलय के गान गाने लगती है—'जल उठ जल उठ अरी, धधक उठ महानाशरूपी मेरी आग!' संसार में एक ज्वालामुखी फूट निकलता है—पर निराश्रित कवि गाता ही जाता है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा!

करुणा की धारा—दुःखवाद

इस युग में नवीन जागृति के कारण उत्साह, स्फूर्ति और उमंग तो काफी भाई, परन्तु बार-बार विफलता ने आकर रक्त में विष घोल दिया—[illegible] अपने प्रति विद्रोह कर रही और [illegible] भी उसके साथ वह निकला [illegible] एक साथ चीत्कार [illegible] यही कारण है कि छायावाद की कविता में करुणा [illegible] है और दुःखवाद एक नया 'वाद' ही हो गया है। [illegible] है,

वही निराशा और अन्धकार से परिपूर्ण है। किशोर और आवेश एक विशाल शिलाखण्ड से टकराकर फिर लौट जाते हैं और अपने ही हृदय के अन्दर पुनः मन्थन कर निकलते हैं। इसी कारण दुःख के चिर-अभ्यासी कवियों के हृदय में उसके प्रति एक विशेष मोह हो गया है। और वे अपने इष्ट को भी पीड़ामय देखना चाहते हैं—'तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा!' अब सदैव ही आँसू के सागर भरते रहना इन कवियों को प्रिय है—

रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर!

रहस्यवाद

जैसा कि मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, छायावाद में रहस्य-प्रवृत्ति का प्राधान्य है। एक प्रकार से अज्ञात और रहस्य उसके आधार-भूत तत्व हैं। इनका कारण है भौतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया। द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि उनका निकटवर्ती पार्थिव संसार रह गया था, अतः स्वाभावतः ही उनका विरोध करने वाले कवि दूर, धुँधले एवं अज्ञात लोक की ओर बढ़ने लगे। इसके लिए उन्हें कवीन्द्र रवीन्द्र की गीता-ञ्जलि, अंगरेजी के भावयोगी कवि तथा हिन्दी के प्राचीन रहस्य-वादियों से विशेष प्रोत्साहन मिला और वे उस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने लगे। वास्तव में यह प्रतिक्रिया का ही फल था और हमारे भावुक कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से इस ओर इतने आकृष्ट नहीं हुए थे जितने कि अपनी भावुकता और कल्पना के व्यायाम के लिए विस्तृत क्षेत्र पा जाने के कारण। इसी कारण आधुनिक छायावाद को विशेष आध्यात्मिक दृष्टि से देखना उचित न होगा क्योंकि एक तो यह युग ही धार्मिकता का नहीं है, दूसरे हमारे प्रतिनिधि कवियों का जीवन भी अधि-

कांश में पाश्चात्य प्रभावों से निर्मित है। केवल काव्य-वस्तु के रूप में उन्होंने इस नाम्य जिज्ञासा और उससे सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न प्रश्नों को अपनाया है। हाँ, अपनी विकसित चिन्तनशक्ति और विस्तृत दार्शनिक अध्ययन के द्वारा उसको पचाने का सफल प्रयत्न अवश्य किया है। श्रीमती वर्मा ने बौद्ध दर्शन, एवं कविवर प्रसादजी व निरालाजी ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा मनन किया है। फलतः उनके काव्यों में भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है। कविवर पन्त ने भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन द्वारा कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि और उनका सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे कवियों का रहस्यवाद उनकी धार्मिक आत्मानुभूति का फल तो किसी प्रकार नहीं हो सकता। रहस्य प्रवृत्ति के कारण उनकी वृत्ति इसमें काफी रमी और अपनी कल्पना एवं चिन्तन शक्ति के बल पर उन्होंने इन रहस्यमय प्रश्नों पर काव्य का सुनहरा आवरण बड़े सुचारु रूप से चढ़ाया। कुछ कवियों की कृतियाँ इसका अपवाद भी हैं जैसे कविवर मैथिलीशरण की 'झंकार'—उसमें धार्मिकता न देखना कवि के व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा। एक बात अवश्य है कि झङ्कार का कवि भक्ति-पथ का पथिक होने के कारण रहस्यवादी रचनाएँ करने में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका।

शैली—कला

भावों और विचारों में तो परिवर्तन हुआ ही, शैली और कला में उससे भी अधिक क्रान्ति उपस्थित हुई। अब तक के कवि पुरानी रीति-ग्रस्त भाषा से ही सन्तुष्ट थे। यदि कोई नवीनता-प्रिय कवि हुआ तो दो-चार उर्दू के शब्द उसमें मिला देता था। इधर के नव कवियों ने अँगरेजी और बंगला की काव्य-शालाओं से नवीन [illegible] प्राप्त कर ली थी। अतः इनका इसकी

लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता के प्रति आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था। बस प्राचीन रूढ़ि-ग्रसित भाषा को प्राणमय बनाने का प्रयत्न तो हुआ ही, साथ ही उसकी लाक्षणिक शक्तियाँ भी विकसित की जाने लगीं और उसके शब्दों की व्यञ्जनाशक्ति (Suggestiveness) का पूर्ण विवेचन होने लगा। अँगरेजी के बहुत-से अलङ्कार जैसे विशेषण विपर्यय, ध्वनि-चित्रण, मानवीकरण आदि ज्यों के त्यों अपना लिये गये और भाषा की चित्रमयता बहुत बढ़ गई। प्राचीन भारतीय अलङ्कार-शास्त्र की भी अवहेलना नहीं की गई। हाँ, अलंकारों को वाच्य रूप में न लेकर लक्षण की सहायता से ग्रहण किया गया। कल्पना और और वक्रता के मोह के कारण दृष्टान्त आदि के स्थान पर अन्योक्ति एवं समासोक्ति ही अधिक प्रिय हुईं। अमूर्त भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए मानवी करण अलङ्कार का प्रयोग होने लगा। साथ ही कुछ स्वच्छन्द कवियों ने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़नी चाहीं जिसमें उनको अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। साध्यवसाना लक्षणा ने चित्रमय विशेषणों की माँग पूरी की। ये सभी बातें एक प्रकार से नवीन हैं और यद्यपि हमारे अलंकार-शास्त्र में इन सब का बीज अन्तर्हित था, किन्तु न तो प्रयोक्ता कवियों ने कुछ समय तक इस ओर कुछ ध्यान दिया और न प्राचीनता के पक्षपाती समालोचकों ने ही इस ओर ध्यान देना उचित समझा। इस प्रकार दोनों ओर से ज्यादती होने के कारण बेचारे छायावादी अब तक एक विचित्र प्रकार के जन्तु ही बने रहे। न वे इनसे मिलना चाहते थे और न ये उन्हें मिलाना। सन्तोष की बात है कि अब यह अजनबीपन धीरे-धीरे मिटता जा रहा है।

दूसरा प्रश्न था छन्दों का। बहुत-से हमारे कवि सवैया और कवित्तों के छन्दों में ही भावों को व्यक्त करते आ रहे थे। कल्पना इनमें अवकाश न पाती थी। छन्दों का बन्धन इतना

दृढ़ हो गया था कि कवि-प्रतिभा सर्वथा उसी की बन्दिनी हो गई थी। इस युग में कवियों की उत्तेजित कल्पना और भावुकता नवीन छन्दों का आग्रह करने लगी, अतः पुराने छन्दों की मर्यादित बेड़ियाँ काटी गईं और स्वतन्त्र रूप से तथा विदेशी प्रभाव की प्रेरणा से हमारे मननशील कवियों ने नवीन उद्भावनाएँ भी कीं। छायावाद के दो प्रतिनिधि कवियों (पन्त तथा निराला) ने इस पर अपने स्वतन्त्र और बहुमूल्य विचार भी प्रकट किये हैं। पन्तजी ने हिन्दी के कोमल छन्दों को चुनकर संगीत और गति का पूर्ण ध्यान रखते हुए भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया—इधर निरालाजी ने लय और ताल के आधार पर 'स्वच्छन्द छन्द' की सृष्टि की जिसकी नाटकीय उपयोगिता वास्तव में श्लाघ्य है। श्रीमती वर्मा ने पुराने ग्राम-गीतों (Folk songs) में नवीन कलात्मक प्राण फूँक कर उन्हें एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया है। इस प्रकार इस युग में छायावादी कवियों ने कला का जो स्वतन्त्र रूप से विकास किया है वह अनुपम है। कलाकार की दृष्टि से हमारे ये कवि सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

× × ×

क्रान्ति शब्द में ही कुछ अप्रियता भरी हुई है। अतः श्रेयस्कर होने पर भी संसार उसे कुछ काल तक नहीं अपनाया करता। यह प्रकृति का स्वाभाविक आग्रह है। हमारे इन नवीन कवियों को जो आघात सहने पड़े हैं वे इसी नियम के अनुसार। किन्तु आज से दस पन्द्रह वर्ष पूर्व जो स्वच्छन्द गान इन निराले कवियों ने अपने निर्मुक्त कण्ठ से गाए, उनमें अजीब जादू था। [illegible] आज प्रत्यक्ष है। हिन्दी के दिग्गज प्राचीनता के पुजारी [illegible] भी उस प्रवाह में स्थिर न रह सके। जादू वही है जो सर पर चढ़ कर बोले।

चित्ररेखा

सिपाही-विद्रोह की विफलता ने क्रान्ति और करुणा को एक-रस कर दिया। विवशता के अन्तर विद्रोह और विद्रोह के अन्तर में आश्रयहीन विवशता थी। साहित्य देश का मुखरित हृदय होता है। अब तक यहाँ के कवि कविता-कामिनी के चीर हरण में ही व्यस्त थे, किन्तु फिर भी वे कहाँ तक इस शंखनाद को न सुनते। फलतः 'परम-प्रेमनिधि, रसिकवर अति उदार गुन खान' हरिश्चन्द्र ने अपनी विलास-बाँसुरी में भारत का करुण-क्रन्दन फूँक ही तो दिया। परन्तु वे थे तो रसिक ही। इससे पूर्व कि माँ की करुण दशा उन्हें रसरंगिनी से खींच कर रणरंगिनी तक लावें, वे इस संसार को छोड़कर चल बसे। हाँ—विद्रोह का सच्चा स्वरूप इस समय एक शक्ति में अवतरित हुआ—उसने समस्त देश व्यापी अग्नि के कणों को एकत्रित करके एक विशाल अग्नि-व्यूह प्रस्तुत किया जिसमें एक ओर तो अपनी रूढ़िगत धार्मिक दुर्बलताओं को भस्म किया गया और दूसरी ओर भविष्य के लिये सोना तपाया गया। परन्तु इस शक्ति का ताण्डव केवल कर्मक्षेत्र में ही हुआ—अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य पर भी उसका चाहे जो कुछ प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विद्रोह के दो क्रियात्मक विभाग कर दिये—एक आत्म-विद्रोह दूसरा पर-विद्रोह। आत्म-विद्रोह ने सुधार का रूप धारण किया और पर-विद्रोह ने सत्याग्रह संग्राम का। इस समय भी कवि कहलाने वालों की संख्या कम नहीं थी। इन द्विवेदी कालीन साहित्य महारथियों को न तो कला की ओर दृष्टिपात करने का समय था और न वह वातावरण ही इसके

उपयुक्त था। वे तो अपनी शक्ति भर 'कला जीवन के लिए है' (Art for life's Sake) सिद्धान्त का प्रतिपादन और कविता का जीर्णोद्धार करते रहे।

हाँ, इस समय एक युवक-हृदय सच्ची भावुकता के संस्कार से अवश्य निखर पड़ा और उसकी भारती ने देश को कुछ समय के लिए गुञ्जरित कर दिया। किन्तु इस शुष्क समय में—(Barren age) में कला का अस्तित्व लोप हो जाने के कारण उसमें भी प्लेटफार्म काव्य का ही आधिक्य था। अवध के अन्तिम अधिपतियों की भाँति अब भी कुछ कवि महोदय अपनी समस्त भावनाओं को अन्तर्मुखी करके "योग से भी अधिक कठिन परनारी संयोग" में तल्लीन थे।

इस व्यापक आवर्तन-प्रवर्तन को दो भावुक युवक चुपचाप देख रहे थे—एक बंग देश के कान्तिमय शस्यश्यामल वातावरण में उच्छृङ्खल गति से घूमता हुआ कभी-कभी अबाध स्वर में चीत्कार कर उठता था 'जागो फिर एक बार'—दूसरा कुछ संकोचशील प्रकृति का था; वह कूर्मांचल के हरिताभ अञ्चल में मुँह छिपाये अपने उमड़ते हुए हृदय को संयत करके कोमल स्वर में कभी-कभी गुनगुनाया करता था—

करुणा-क्रन्दन करने दो !
अविरल-स्नेह-अश्रु-जल से माँ !
मुझको मलमल धोने दो !

× × × ×

यद्यपि इससे पूर्व इस ओर सफल संकेत कविवर प्रसादजी ने कर दिया था, परन्तु उसी समय उनकी प्रतिभा के दूसरी ओर प्रवृत्त हो जाने के कारण, उनके लिए यही कह देना संगत होगा कि 'यदि कोई [illegible] कहाँ चीन्ह दे पात।' इसके अनन्तर समय पाकर दोनों ही आगे बढ़े—एक ने स्वच्छन्द होकर मुक्त छन्द में अपने विद्रोही गीत गाए—दूसरे ने रागों

से दूर हटकर वर्त्तमान के रंग लेकर भविष्य का एक छाया-चित्र खींचा और उसी के अनुसार अपनी स्वर-साधना की।

तो यह दूसरे कविकुमार हमारे पन्तजी ही हैं। प्रकृति के अन्तरंग और बहिरंग सौन्दर्य से ही इनके स्वभाव का निर्माण हुआ है—इसी कारण

सरलपन ही है इनका मन
निरालापन है आभूषन।

कवि ने अपनी कला के सदृश ही अपने व्यक्तित्व के निर्माण का भी सफल प्रयत्न किया है। गौर वर्ण, मांसल-सा शरीर, घुंघराले रेशमी बाल, और गम्भीर-मंथर आकृति वाला यह नवयुवक कवि एक विशेष कवित्व पूर्ण व्यक्तित्व रखता है जिसका प्रभाव देखने वाले पर अनिर्वच और स्थायी होता है। पन्तजी स्वभाव से ही संकोचशील और मितभाषी हैं। उनकी आँखों में एक स्निग्ध स्वच्छता है जो उनकी मननशील निर्मल आत्मा का परिचय देती है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में पन्त का व्यक्तित्व, पूर्ण [illegible] है। संगीत-मय सुमधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, [illegible] विनम्र और निश्छल वार्तालाप, चिर मोह के प्रबल बंधन हैं। दो श्रेष्ठ गुण पूर्ण मनुष्यत्व के हैं—आत्मविश्वास और निरभिमानता। साथ ही ये दूसरों के स्वाभिमान का सम्मान करते हैं। यही नहीं [illegible] दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की [illegible]।

[illegible] कौसानी ने ही इन्हें कवि बनाया है—यह कहना तो अनुचित न होगा। हाँ, इन्हें [illegible] सौन्दर्य के इस कवि के [illegible] उसकी रंगीन कला पर कुछ "[illegible]" का काफी आभार है। 'ग्रन्थि' के [illegible] पन्तजी को जन्म के उपरान्त तुरन्त ही मातृ-वियोग सहना पड़ा।

नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली,
बाल्य ही में होगई थी लुप्त हा!
मातृ-अञ्चल की अभय छाया मुझे।

इस घटना से कवि की प्रारम्भिक वीणा-सीरीज वाली कविताएँ प्रभावित हैं। उनके शिशु गीत माता के अभाव में ही उसको बारबार पुकारते हुए एक विशेष सकरुण स्मृति से अनुप्राणित हैं। पन्तजी का विद्यार्थी-जीवन विशेषता-शून्य है। प्रकृति का यह कवि बन्द दीवारों में पढ़ता ही क्या? उन्होंने तो जो कुछ सीखा पढ़ा है वह स्वयं चिन्तन करके, अथवा स्वतन्त्र रूप से संस्कृत, बंगला और अँगरेजी की काव्य-शालाओं में अध्ययन करके। अतः स्वभावतः ही महात्मा गाँधी के भाषण से प्रभावित होकर आपने एफ० ए० से ही विद्यालय छोड़ दिया था।

पन्तजी की अबोध किशोरावस्था बाह्य के रूप-रंग पर ही मुग्ध होती रही, किन्तु उसमें चिंतन की प्रवृत्ति तभी से वर्तमान थी। आपकी प्रारम्भिक कविताएँ 'अल्मोड़ा अखबार,' 'सुधाकर' तथा मर्यादा आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं—'कागज कुसुम', 'सिगरेट का धुआँ' आदि उनके विषय हुआ करते थे—कहते हैं वे अब उन्होंने नष्ट करदी हैं। यह अनुभव-विहीन शान्ति प्रिय बालक सोसाइटी से दूर रह कर चुपचुप लिखता रहता था—१५ वर्ष की अवस्था में ही उसने 'हार' नामक उपन्यास लिख डाला। बाद में पन्तजी की सर्व-प्रथम कविता जिसने काव्य-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया 'सरस्वती' में प्रकाशित 'स्वप्न' थी जिसको आपने सर्व-प्रथम प्रयाग के "म्योर हिन्दू होस्टल" के 'एक कोने से कमरे में' लिखकर वहीं के कवि-सम्मेलन में सुनाया था। इसके उपरान्त सन् १९ से तो आप भिन्न-भिन्न पत्रों के पृष्ठों पर काव्य-रश्मियों को स्थान देते रहे हैं। कवि की पुस्तकाकार कृति, 'हार' के उपरान्त 'ग्रन्थि' है जो १९२६ में प्रकाशित 'पल्लव' से वर्षों बाद जनता के सम्मुख

आई थी। 'पल्लव' से चार वर्ष पूर्व 'उच्छ्वास' कविता-पुस्तिका आपकी लेखनी से "यज्ञ के कनक-वलय के सदृश निकल पड़ी थी"—जिस पर बहुत दिनों तक वादविवाद रहा। पल्लव के प्रकाशन के तीन वर्ष उपरान्त कवि पर दैविक और दैहिक विपत्तियों का प्रकोप हुआ—माता और पिता दोनों के स्थानापन्न पूज्य पिताजी पं० गंगादत्तजी पन्त का स्वर्गवास और साथ ही अपनी रुग्णावस्था ने उसके जीवन को निराशा से ओत-प्रोत कर दिया। इन्हीं दिनों पन्तजी दर्शन की ओर झुके और जीवन के रहस्यों में प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगे। प्रभु की अनुकम्पा से शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ कर आपने जीवन के प्रति एक नवीन आशा-समन्वित दृष्टिकोण धारण किया जिसका विकास 'गुञ्जन' की कविताओं में खूब हुआ। यही भावना आगे चलकर 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानियों' में अधिक स्पष्ट और पुष्ट हो गई, 'युगान्त' में आकर वह प्रारम्भिक करुणाक्लिष्ट भाव मानव-जगत की कल्याण कामना में मुखरित हो उठा और आज पन्तजी का दृष्टि-कोण समाजवादी है।

जगती के जन पथ कानन में
तुम गाओ विहग अनादि गान।
चिर-शून्य शिशिर-पीड़ित जग में,
निज अमर स्वरों से भरो प्राण।

पन्तजी चिंतनशील व्यक्ति हैं—वे अपने बाह्य और अन्तर दोनों के निर्माण में सदैव सचेत रहते हैं। अवस्था के साथ उनका व्यक्तित्व भी प्रौढ़ और शांत होता जा रहा है। वे पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मर्मज्ञ हैं— दर्शन और अन्य ललित कलाओं में उनकी अच्छी गति है। एक शब्द में कवि-मर्यादा और कलात्मक संयम इन दोनों का इतना अपूर्व सम्मिश्रण आपको साहित्यिक संसार के अनेक व्यक्तियों में नहीं मिलेगा।

पन्त जी का भाव-जगत

पन्तजी सुन्दरं के ही कवि हैं—यद्यपि उनका सुन्दरं शिवं और सत्यं से शून्य नहीं है। सौन्दर्य—प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक ही इनकी कविता का असली विषय है। उसमें भी जो बात सब से मुख्य प्रतीत होती है, वह है उनकी सुमन-चयन-प्रवृत्ति—कवि की 'याचना' प्रारम्भ से ही यह रही है।

नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूल सुरभि मधु-रस हिमकण,
मेरे उर की मृदु-कलिका में—
भरदे करदे विकसित मन।

प्रकृति के विराट रंगमञ्च पर इनकी सौन्दर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीचिजाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, पवन, इन्दु, सुरभि, तारिकायें आदि पात्रों का ही अभिनय देखती है—अथवा देखना चाहती है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवण्डर, भूकम्प और बाड़व-मन्थन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती। मेरे इस कथन को सुनकर 'परिवर्तन' के प्रेमी पाठक कदाचित हँस उठें किन्तु मेरी तुच्छ धारणा यही है कि किसी परिस्थिति विशेष के आवर्त में फँस कर पन्तजी विश्व के उस दूसरे किनारे पर जा निकले—यह उनकी प्रतिनिधि कविता नहीं हो सकती। जीवन में कम से कम प्रारम्भिक कवि-जीवन में उन्होंने नौकाविहार ही अधिक किया—यह दूसरी बात है कि ज्योत्स्ना-उज्ज्वल मोतियों को बटोरते हुए कभी कोई नक्र-चक्र भी इन्हें दिखाई पड़ जाय और उससे चौंक कर ये कुछ समय के लिए जीवन एवं काल की कठोरता के ध्यान में मग्न हो जायँ। उनके लिए तो यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

नवल कलियों के घोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित कवि-सी तुम अपना पाठ
सीखती हो तुम सखि, जग में घूम।

परन्तु इस सौन्दर्य के अन्तर में प्रवेश करने की शक्ति पन्तजी में अलक्ष्य है। अलमोड़े की चित्रित घाटी में पला हुआ यह भावुक कवि प्रकृति के रंगीन स्वरूप में घुलमिल-सा गया है—उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया-कम्पन इसके हृदय में पुलक और प्राणों में स्पन्दन भर देता है। कोमल प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की पन्तजी को दिव्य अनुभूति है। जब प्रकृति के लीला क्षेत्र में नव-वसन्त का आगमन होता है तो कवि का हृदय भी एक नवीन राग और उल्लास से भर जाता है—प्रत्येक चित्र उसकी आँखों के द्वार से सीधा आत्मा तक पहुंच जाता है।

लो, चित्र-शलभ सी पंख खोल
उड़ने को है चित्रित घाटी,
यह है अलमोड़े का वसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत-पाटी!

एक ओर यदि वह पुञ्ज-पुञ्ज विहगों को देखकर हर्ष-विभोर हो उठता है—

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुञ्ज पुञ्ज
चिर सुभग, सुभग!

तो दूसरी ओर 'छाया' को तरु के नीचे एकाकिनी देखकर उसकी अवस्था पर दयार्द्र हो जाता है—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई?

एक बार छाया को देखकर पहिले तो कवि के हृदय में अपनी दशा से उसके सामञ्जस्य की भावना जाग्रत हुई, परन्तु शीघ्र ही वैषम्य का भी पता चल गया और संतोष का भाव एक प्रकार से असूया-मिश्रित विवशता में परिणत हो गया। देखिए कितनी दीन वेदना है—

अहा, अभागिन हो तुम मुझ-सी
सजनि ! ध्यान में अब आया
तुम इस तरुवर की छाया हो
मैं उनके पद की छाया।
निज निशा में किन्तु वही तुम
मिलती हो फिर तरुवर से,

× × × ×

और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि दिन बन बन !

प्रभात की प्रथम-रश्मि के स्पर्श से ही विहंगिनी के कण्ठ से गीतियाँ फूट निकलती हैं, कवि एक साथ विस्मित हो जाता है और उससे पूछने लगता है—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहिचाना ?

कितने भावुक हृदयों ने इस बात का अनुभव न जाने कितनी बार किया होगा, परन्तु भाव को पकड़ कर उसका यथातथ्य चित्रण कर देना कुशल कलाकार का ही काम है।

यह अनुभूति जब कुछ गहरी हो जाती है तो कवि प्रकृति में एक असाधारण आकर्षण का अनुभव करने लगता है और एक करुण विस्मय में विभोर हो कह उठता है—

लुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन !

ऐसे उदाहरण पन्तजी की कविता में राशि-राशि मिलेंगे। प्रकृति को भेंटने के लिए पन्तजी का कवि पागल होकर दौड़ता है। मधुप-कुमारी के गानों पर मुग्ध हो कवि एक साथ कातर होकर उसकी मनुहारें कर उठता है—

सिखादो ना हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपना मीठा गान—

'ना' शब्द में कितनी कातरता, कितना अनुरोध है !

प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त पन्तजी की शारीरिक-सौन्दर्य सम्बन्धी अनुभूति भी बड़ी तीव्र है। 'नारी' कविता में वे उसके समस्त सौन्दर्य का वर्णन एक शब्द में कर देते हैं—'अकेली सुन्दरता कल्याणि !' कैसा मुग्ध आवेश है ! शारीरिक सौन्दर्य का विलास देखना हो तो ज्योत्स्ना के शयनागार में चलिए— वहाँ पर आप रूप-विह्वल हो उठेंगे। कवि की भावी-पत्नी का रूप विभव भी कितना मादक है—उसको भी ('अनिर्वर्णनीयं परकलत्रं' का विचार थोड़ी देर छोड़ कर) देखिए—

अरुण-अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों का हिलता-हिम हास;
इन्द्रधनुषी-पट से ढँक गात
बाल विद्युत का पावस लास,

हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अङ्गों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण !

वास्तव में पन्तजी के काव्य-जगत में ऐन्द्रियता (Sensousness) का उचित मान है। परन्तु इस सौन्दर्य्य-उपासना में एक गुण है जो इन्हें अँग्रेज़ी कवि कीट्स से इस अंश में ऊँचा उठा देता है—वह है इनका अन्तर्बाह्य दोनों पहलुओं का चुनाव। पन्तजी में आदि से अन्त तक एक प्रकार के प्लेटोनिज्म के दर्शन होते हैं। इनकी अप्सरा भी मानसिक सौन्दर्य के कारण सुन्दर और आकर्षक है। वे अपनी उच्छ्वास की नायिका से यही तो कहते हैं—

तुम्हारे छूने में था प्राण !
संग में पावन गंगा-स्नान !
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

मानसिक-संसार

मानसिक संसार में भी इनका परिचय अधिकतर स्वप्न, कल्पना, आँसू, उच्छ्वास, अनंग आदि से ही है। इसके आँसू और उच्छ्वास भी सुन्दर ही हैं। वास्तव में हृदय की कोमल भावनाओं को, उन ऊर्मिल प्रवृत्तियों को गुदगुदाना, जो थोड़ी देर उठ-उठ गिर-गिर कर विलीन हो जाती हैं—पन्तजी की कविता का विशेष गुण है। इस विषय में इनकी सूक्ष्मदर्शिता अपरिमेय है। कल्पना का एक स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का एक द्रव एक साथ किन भावों को जाग्रत कर देता है यह पन्तजी पूर्ण रीति से जानते हैं। इनकी संवेदना इतनी तीव्र है कि जहाँ कोई भावना उठी नहीं कि तुरन्त ही उन्होंने उसे अपने कलामय

पाश में बाँध लिया। गुञ्जन की अधिकांश कविताएँ ऐसी ही हैं। पल्लव में 'मुस्कान' भी एक साधारण—अत्यन्त क्षणिक भावना का चित्रण है। इसी प्रकार:—

आज रहने दो यह गृह-काज
प्राण! रहने दो यह गृह काज।

में 'बातास के सौरभश्लथ उच्छ्वास' से पुलकित हो कर नायक अपनी प्रियतमा से समस्त गृह कार्य बन्द कर देने का आग्रह करता है—"यह गृह-काज तो नित्य ही होता रहता है—आज इस मादक बेला में तो इसे बन्द करो—यह समय गृह-काज करने का नहीं है—न, आज इसे रहने दो" प्रत्येक नव-दम्पति इस भावना की कोमलता से परिचित होंगे। 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता में तो प्रत्येक पंक्ति में इसी प्रकार का एक भाव-रत्न जड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'वीणा' की अधिकांश कविताएँ भी गुदगुदा कर अपना प्रभाव डालती हैं। पन्तजी ने बालिका बन कर बहुत से सुन्दर गीत लिखे हैं। उन सभी में मा को ही सम्बोधित किया गया है। जन्म से ही मातृ-हीन पन्तजी की ये कविताएँ एक विशेष करुण-स्मृति से झंकृत हैं। कुछ उदाहरण देखिए:—

बालिका माँ के स्नेह और अपने खेलों पर इतनी मुग्ध है कि वह सदा छोटी ही बनी रहना चाहती है क्योंकि वह देखती है कि बड़ी हो जाने पर माताएँ अपनी कन्याओं से न तो पहिला-सा लाड़-चाव करती हैं और न उन्हें परियों के गीत ही सुनाती हैं—

मैं सब से छोटी होऊँ!

क्योंकि—

बड़ा बनाकर पहिले हम को, तू पीछे छलती है मात!
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे, साथ नहीं फिरती दिन रात!
अपने कर से खिला, धुला, मुख, धूल पोंछ सज्जित कर गात,
थमा खिलौने नहीं सुनाती हमें सुखद परियों की बात!

प्रार्थना कि जो भोली साथ ही अर्थ-गर्भित है। यही भावना कहीं-कहीं अधिक स्पष्ट और दिव्य हो गई है—बहुत सी छोटी कृतियों में पन्तजी अपने अस्तित्व को विश्व में मिला देने के लिए उत्कण्ठित हो उठे हैं। ये कविताएँ उनके सरल हृदय का भव्यतम प्रतिबिम्ब हैं—अतः एक विशेष महत्व रखती हैं।

इसी प्रसंग में—एक उदाहरण सरल मौग्ध्य का तो देखिए कितना मुग्धकारी है—

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर—

किशोर सारल्य बोल रहा है।

परन्तु मेरे उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि पन्तजी सर्वत्र गुदगुदा कर ही रह जाते हैं। देश के अन्तर में प्रवाहित करुणा की धारा से कौन अछूता बचा होगा? और स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी तीक्ष्ण कवि-दृष्टि द्वारा मानव-हृदय को कुरेदने में भी प्रवीणता दिखाई है।

कुसुमों के जीवन का पल
हँसते ही जग में देखा।
इन म्लान-मलिन अधरों पर,
स्थिर रही न स्मितकी रेखा।

इस कथन में मानव जीवन की ईर्ष्यामय विवशता का कितना मर्मस्पर्शी उद्गार है।

करुण है हाय प्रणय!
नहीं दुरता है जहाँ दुराव,
करुणतर है वह भय
चाहता है जो सदा बचाव।

अन्तिम दो पंक्तियों में—'सदा बचाव चाहने वाला भय करुणतर है'—इस उक्ति में—एक अनिर्वचनीय कसक है।

हाँ, एक नहीं अनेक स्थानों पर यह कसक अधिक गहरी

हो गई है और कवि का संयम उसको वश में नहीं रख सका—यौवन के आगमन के साथ ही बालिका का चिर-परिचित संसार एक साथ बदल गया। उसका चित्रित बालापन विधाता ने उससे छीन लिया। बेचारी बड़ी दुखी हुई और करतार से पुनः उसे पाने की प्रार्थना करने लगी। देखिए, उसकी प्रार्थना में आपको एक आवेग (Passion) मिलेगा जो हृदय पर एक साथ प्रभाव डालता है।

इस अभिमानी अञ्चल में फिर चित्रित कर दो विधि अकलङ्क
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अङ्क।

× × × ×

उसी सरलता की स्याही से सदय इन्हें अङ्कित कर दो
मेरे यौवन के प्याले में फिर वह बालापन भर दो।

उक्त पंक्तियों में ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई अभिमानिनी बालिका अपने वृद्ध पितामह से किसी वस्तु के लिए अत्यन्त ही झगड़ रही हो। 'विसर्जन' कविता में भी ऐसा आवेश है—

इस मन्दहास में बहकर
गाऊँ मैं बेसुध प्रियतम,
बस इस पागल पन में ही
अवसित कर दूँ निज जीवन।

× × × ×

तुम मुझे भुलादो मन से,
मैं इसे भूल जाऊँगी।
पर वञ्चित मुझे न करना,
अपनी सेवा से पावन!

ग्रन्थि, उच्छ्वास और आँसू ये तीन कविताएँ किसी विशेष करुणा-भार से प्रेरित होकर लिखी गई हैं—इनमें आवेश फूट पड़ा है। युवक कवि के वे उन्मुक्त गान हैं—बन्धन-विहीन और

असंयत ! हाँ, उनमें भी अनावश्यक रूप से दार्शनिक विवेचन करने की प्रवृत्ति कुछ-कुछ रस में बाधक होती है और अनुभूति को दबाती है। इन कविताओं में प्रेम का भव्यतम आख्यान है। उसकी व्यञ्जना "सच्ची अनुभूति और उर्वर-कल्पना के सुन्दर सम्मिश्रण से हुई है"—अतः स्वभावतः ही उसमें हृदय में घर करने की क्षमता है। प्रेम की अन्धता की एक व्यञ्जना देखिए—

और बोले प्रेम क्या तुम हो बने,
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज-से विचरते हो वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं
बस बिना सोचे हृदय को छीन कर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में।

'ग्रन्थि' में निराश प्रेमी की विवशता देखिए किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है—

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
चन्द्रिके चूमो तरङ्गों के अधर

× × × ×

पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।
चल किसी निर्जन विपिन में बैठ कर

× × × ×

धीरे-धीरे कवि का यह व्यक्तिगत वियोग संसार को ही वियोगमय अनुभव करने लगता है और कविता का उद्गम ही वियोग और आँसुओं से घोषित कर देता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,

उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

पं० कृष्णशंकर के शब्दों में "वियोगजन्य विकलता का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा है कि वह यह मानने लगता है कि सर्व प्रथम कविता किसी वियोगी के गान रूप में ही प्रस्फुटित हुई होगी। यह बात सत्य भी है। क्रौंच मिथुन के वियोग को देख, कर ही कवि के कण्ठ से काव्यधारा उमड़ पड़ी थी। वह कवि स्वयं वियोगी नहीं था पर उसके सुकुमार हृदय में इतनी पर-दुःख कातरता थी कि वह उस पक्षी के दुख से उतना प्रभावित हुआ। पन्तजी का प्रथम कवि स्वयं वियोगी रहा होगा। इस कल्पना में भी सार्थकता है।"

यही करुणा की भावना 'परिवर्तन' में जाकर शत-शत धाराओं में बही है। विश्व का समस्त उत्ताप मानो पन्त के शब्दों में मुखरित हो उठा हो। वैसे तो यह समस्त कविता ही हिन्दी साहित्य की मुकुट-मणि है—फिर भी कहीं-कहीं भाव-व्यञ्जना बड़ी अद्भुत और तीव्र है। उदाहरणार्थ—

अभी तो मुकुट बंधा था माँथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अँगार !

एकाध स्थान पर करुणा की व्यञ्जना कुछ अनावृत-सी हो गई है जो उचित नहीं—

प्रात ही तो कहलायी मात
पयोधर बने उरोज उदार
मधुर उर-इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल-आकार,

छिन गया हाय! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल।

यों तो पन्तजी के काव्य में सभी गिने गिनाए रसों के एकाध उदाहरण मिल ही जायँगे—अकेले परिवर्तन में ही करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और शान्त आदि रसों का सम्यक् परिपाक मिलता है—तथापि पन्तजी के मुख्य रस शृंगार और करुण ही हैं। उनकी भाव-परिधि सीमित ही है। साहित्याचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, आजकल सम्यक् उद्‌बुद्ध रसों की व्यञ्जना न होकर 'भावों' की ही अभिव्यक्ति होती है। पन्तजी के विषय में भी यह कथन ठीक बैठता है। उनका अनुभूति-क्षेत्र सीमित होने के कारण भयानक एवं वीभत्स चित्र केवल कल्पना की ही करामात से हैं—फिर भी उनकी सजीवता में कौन सन्देह कर सकता है?

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुण्ड मुण्डों की कर बौछार
प्रलय घन-सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगन्त—संहार।

एक रौद्र-चित्र लीजिए—

पटक रवि को बलि-सा पाताल
एक ही वामन पग में—
लपकता है तिमिर तत्काल,
धुएँ का विश्व विशाल!

'हास' का तो केवल एक-आध स्थल पर ही थोड़ा-सा स्फुरण है। एक तो ज्योत्स्ना में जलद के प्रसंग में कुछ आभास मिलता है—दूसरा वीणा की एक कृति में। एक बार अल्मोड़े में राजर्षि विवेकानन्द आए थे; जनता ने उनका स्वागत बड़ा शानदार किया। भोली बालिका यह न समझ सकी कि यह सब

क्यों हुआ और अपनी कौतूहल-निवृत्ति के लिए दौड़ी-दौड़ी माँ के पास गई—

माँ अल्मोड़े में आए थे जब राजर्षि विवेकानन्द
क्यों मग में मखमल बिछवाया, दीपावलि की विपुल अमन्द।
बिना पाँवड़े क्या वे मग में जननि नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की क्या वे माँ ! मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं ?

बालिका का भोला प्रश्न मीठी गुदगुदी-सी उठा देता है। उपर्युक्त विवेचन मैंने थोड़ासा प्राचीनता-प्रेमियों की तुष्टि के लिए ही किया है। वास्तव में पन्त के काव्य की विवेचना पर उससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

जैसा कि मैंने चित्ररेखा में निवेदन किया है पन्तजी ने प्रारम्भ से ही संयम का बड़ा अभ्यास किया है। उनकी वीणा की कृतियों में भी कहीं-कहीं इसका आभास मिलेगा। पल्लव का युवक कवि तो अवश्य आवेग के प्रवाह में बह गया परन्तु बाद में उसने अपने आपको सम्हाला और तभी से उद्‌गारों को संयत करने का सफल प्रयत्न किया है। अब उनकी धारणा कदाचित् यही है कि आधुनिक सभ्यता में पोषित प्रेयसी की भाँति कविता मानसिक विस्फोट सहन नहीं कर सकती—"मैं चाहती हूँ प्रेम की भाषा अधिक संस्कृत, प्रेम प्रकट करने के हाव-भाव और भी नवीन एवं परिमार्जित हों" (ज्योत्स्ना); और पन्तजी में हमें आवेश की परिक्षीणता ही मिलती है। भक्त लोग कहते हैं कि उनका संयम आत्म-विजयी का संयम है—परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में वह संयम अवाञ्छित ही है। वास्तव में ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया कवि की चिंतन-शक्ति और कल्पना विकसित होती गई है और अनुभूति दबती गई है, अथवा, इतनी संयत हो गई है कि उसकी सूक्ष्मता साधारण भावुकता की पकड़ से बाहर है। 'पल्लव' के उपरान्त 'गुञ्जन',

फिर 'ज्योत्स्ना' और अन्त में 'युगान्त' में विकास का जो सूत्र मिलेगा वह मेरे कथन का समर्थन करेगा। युगान्त में कवि हृदय से आगे आत्मा तक पहुंचने का प्रयत्न करता प्रतीत होता है—उसमें चिन्तन का इतना विकास हो गया है कि अनुभूति अधिकांश में दब गई है। अभी तक तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि उन जीवन-व्यापी गहन संघर्षों का जिनके वात्याचक्र में पड़ कर मनुष्य का जीवन कुछ से कुछ हो जाता है, पन्तजी में अभाव है। इन्हीं की कुशल व्यञ्जना के कारण शेक्सपीयर, रवीन्द्र—संसार के सभी महाकवि अमर रहेंगे और इनकी क्षीणता पन्तजी के भाव-जगत में अव्यापकता ला देती है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन में, फिर ज्योत्स्ना और युगान्त में उन्होंने विश्व-व्यापिनी गूढ़तम समस्याओं पर दृष्टि-पात ही नहीं उनका एक प्रकार से सफल अंकन भी किया है, परन्तु फिर भी दूर बैठे हुए दर्शक की भाँति ही उन्होंने ऐसा किया है, उस ताण्डव-अभिनय में प्रविष्ट खिलाड़ी की भाँति नहीं। उन्हीं के शब्दों में—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।

उनको तो वास्तव में हम यही कहते हुए सुन कर मुग्ध होते हैं—

जग पीड़ित रे अति सुख से
जग पीड़ित रे अति दुख से।

कल्पना

इस आवेश-निर्बलता को पन्तजी कल्पना के द्वारा पूरी करते हैं। कल्पना पन्तजी की कविताओं का प्रधान साधन है। विविध चित्रों का सजीव अंकन उपमा एवं रूपक की मधुर योजना

आदि सब कुछ कल्पना की ही करामात है। वैसे तो वे इसको भी काफ़ी संयत करने का यत्न करते हैं परन्तु फिर भी इस कामरूपा परी को कहाँ तक कारा में बन्द किया जा सकता है और समय समय पर वह 'भू नभ का छोर' मिला ही देती है। पन्तजी की कल्पना का सब से बड़ा गुण उसकी मूर्ति-विधायिनी शक्ति है—यह शक्ति इतनी विकसित है कि कवि के सम्मुख छोटी से छोटी वस्तु भी मूर्त्त-रूप में आती है। वास्तव में यह शक्ति सभी प्रतिभावान कवियों में होती है परन्तु इतना सूक्ष्म विधान बहुतों में नहीं मिलता। व्यापक और विराट के चित्रों में कल्पना की जिस ऊँची उड़ान और व्यापकता की अपेक्षा होती है—वह चाहे पन्तजी में न हो (यद्यपि 'परिवर्त्तन और बादल के कवि के लिए यह नहीं कहा जा सकता) परन्तु जो सूक्ष्म-ग्राहिणी नुकीली कल्पना 'मीनाकारी' के लिए अपेक्षित है उसका पन्तजी के पास अक्षय भण्डार है। हाँ, ऐसा भी कभी-कभी हो जाता है कि पन्तजी की कल्पना उन्हें बहका ले जाती है—'स्याही की बूँद', 'नक्षत्र' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इसका कारण यह है कि इनमें अनुभूति से शून्य कोरी कल्पना मात्र ही है—कवि का हृदय साथ नहीं लगा। परन्तु जब कल्पना और अनुभूति का सामञ्जस्य हो जाता है तो प्रभविष्णुता बढ़ जाती है। जैसे अनंग कविता में—

मिली लालिमा में सन्ध्या की
छिपा एक निर्मल संसार,
नयनों में निस्सीम व्योम औ,
उरोजों में सुरसरि-धार।

इसी प्रकार कल्पना अनुभूति और चिन्तन तीनों का उचित सम्मिश्रण हो जाने से कवि की कृतियाँ संसार की विभूति हो जाती हैं। "बापू के प्रति" कविता ऐसी ही है। अस्तु !

गीति-काव्य

यों तो गीति-काव्य हिन्दी में सदा से ही चला आता है; विद्यापति, सूर, मीरा और घनानन्द के भाव-प्रवण पद संसार के गीति-साहित्य में अमर रहेंगे क्योंकि वे उनके हृदय के उन्मुक्त एवं उन्मत्त गान हैं। परन्तु जिस गीति-शैली का विकास द्विवेदी युग के पश्चात् हुआ वह पाश्चात्य लिरिक (Lyric) के ढंग का था। अँगरेजी रसाचार्यों की दृष्टि से गीति-काव्य की आत्मा है भाव (emotion), जो किसी प्रेरणा के भार से दब कर एक साथ गीत में फूट निकलता है—अतः स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता (Spontaniety) का तत्व वर्तमान रहता है। भाव के भार के कारण उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता ही नहीं, एक सुगठित एकता होती है जो समस्त कविता को अन्वित किए रहती है। सच्ची गीति-कविता एक सरल, क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम-स्वरूप होती है। इस मनोवेग से उसका समस्त अन्तर्बाह्य एक साथ झंकृत हो जाता है—उसके अंतस में एक अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। यह अग्नि इतनी प्रखर हो जाती है कि और सभी भावना एवं विचार इसमें विलुप्त हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं रह जाती। यहाँ तक कि कवि स्वयं तदाकार हो जाता है और समस्त कविता अपने लिखित-स्वरूप में आने से पूर्व ही उद्भासित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक गीति का जन्म अन्तर्ज्वाला से ही होता है। हाँ, इस ज्वाला की तीव्रता और वेग प्रत्येक कवि की प्रकृति के अनुसार होता है; प्रायः इसका विस्तार संक्षिप्त एवं अल्पकालीन ही होता है इसलिए शुद्ध गीतियाँ छोटी ही होती हैं। इसका प्रकाश सहज और शांत ही होता है—एक भावना, एक विचार ही उसको अनुप्राणित करता रहता है; इसी कारण इसमें एक अखण्ड एकता मिलती है। कुछ कवियों में तो यह अग्नि धीमी धीमी जलती है जैसे ठाकुर, [illegible] आदि में—कुछ में इसका

विक्षोभ भयङ्कर होता है जैसे मीरा, बच्चन, नवीन आदि में।

हिन्दी में इस प्रकार की गीति-कविता को जन्म देने वालों में पन्तजी का स्थान ऊँचा है। वीणा की तुतली कविताएँ, पल्लव की आवेग-दीप्त गीतियाँ, सभी उन्मुक्त कण्ठ के स्फुरण हैं। इन सभी को एक भाव अनुप्राणित करता है—अतः उनकी हार्दिकता एवं स्वाभाविकता अक्षुण्ण है। उदाहरणार्थ वीणा के तो अधिकांश छन्द शुद्ध गीति-काव्य की विभूति हैं। पल्लव में कल्पना का प्राधान्य कहीं-कहीं हार्दिकता में बाधक पड़ता है—जैसे नक्षत्र, स्याही की बूंद आदि कविताओं में—परन्तु फिर भी उसकी अनेक गीतियाँ हृदय के उद्गारों से आक्रान्त हैं। पल्लव का मौन निमन्त्रण, अनंग, विसर्जन और बालापन आदि गीतों के अमर उदाहरण हैं। तनिक बालापन की अस्फुट झङ्कार सुनिए—

हाँ, हाँ वही वही जो जलथल
अनिल अनल नभ से उस बार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी बन आकार।

अहो विश्व-सृजन पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा संगीत।
माँ की गोदी में थपकी से
पला हुआ वह गान पुनीत।

मौन निमन्त्रण का प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और एक सूत्र में गुम्फित है। तदुपरान्त जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ पन्तजी अपने आपको संयत (Contained) करने लगे और हार्दिकता की कमी होने लगी। गुञ्जन में चिन्तन बढ़ने लगा और ज्योत्स्ना के कुछ गीतों को छोड़ युगान्त में आकर फिर वह अत्यन्त विकसित हो गया। अतः स्वभावतः ही गीति-कवितायें इन दोनों संग्रहों में उँगली पर गिनने योग्य हैं। गुञ्जन की—

कब से विलोकती तुमको ऊषा, आ वातायन से !

अथवा—

मुसकाती थीं क्या तुम आज !
मुसकाया था स्वर्ण-विहान !

आदि कविताओं में उन्मुक्तता पूर्ण रूप से वर्तमान है युगान्त में ऐसे गीत और कम हो गए हैं फिर भी 'छाया'—

वह लेटी है तरु-छाया में
सन्ध्या-विहार को आया मैं

शुद्धतम लिरिक का उदाहरण है। अन्य कविताएँ या तो अलंकृति के कारण या चिन्तन के कारण शुद्ध लिरिक नहीं कही जा सकतीं। 'अप्सरा' में कवि का गीति-तार अलङ्कारों के बोझ से पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया है। इसी प्रकार उनकी पल्लव की 'छाया' के लिए भी वही कहा जा सकता है जो स्टॉप-फर्ड, ब्रुक ने शैली के प्रसिद्ध गीत 'स्काईलार्क' के लिए कहा था। उनका कहना है कि उपमाओं के कारण कविता में आवेग (Impulse) का तार टूट गया है। वास्तव में पन्तजी की अधिकांश कविताओं में मूलवर्ती भाव या तो पर्याप्त रूप से उद्दीप्त नहीं रहा अथवा चिन्तन या किसी और वजह से लिखते समय ठण्डा पड़ गया है। सच तो यह है कि पन्तजी आवेश-प्रधान कवि नहीं हैं—अतः उनमें वह अग्नि प्रायः नहीं मिलती जो गीति-काव्य की प्राण है—और यदि है भी तो मन्द-मन्द सुलगती ही है, उसमें विस्फोट कभी नहीं होता।

पन्तजी की विचार-धारा

भावुकता को विचार-धारा से पूर्णतया पृथक कर लेना असम्भव है। अतः पन्तजी के थोड़े बहुत विचारों का परिचय हमें उनकी भावुकता के साथ मिल चुका है। फिर भी ईश्वर, जीव प्रकृति और इस त्रैत के अन्तर्गत आनेवाली, जीवन, मृत्यु, सुख दुख आदि गहनतम समस्याओं के प्रति उनका दृष्टि-कोण क्या है यह भी जान लेना उनको समझने के लिए अनिवार्य है। पश्चिमी कला और सभ्यता की अमिट छाप होने पर भी, पन्त जी सच्चे आस्तिक हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे' और विश्वास को वे जीवन का अनिवार्य अंग समझते हैं।

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन।

परिवर्तन में विश्व के अन्तर में व्याप्त इस एक ही शक्ति के विषय में वे कहते हैं—

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शरद अम्बर में नील विकास
वही उर उर में प्रेमोल्लास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास।

यही एक उल्लास कभी कभी करुणा-प्लावित हो जाता है, और तब सूझते हैं

गगन के उर में भी है घाव, देखतीं ताराएँ भी राह।
बँधा विद्युत छवि में जलवाह, चन्द्र की चितवन में भी चाह।

यही एक अज्ञात शक्ति कभी कभी प्रियतम के रूप में स्वप्न में आकर पन्तजी को छायावन में फिराती है और वे विस्मित-से कह उठते हैं—

न जाने कौन अहे द्युतिमान,
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान—
अहे सुख दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकता तुम हो कौन!

इसी अज्ञात शक्ति को जगज्जननी मान कर भी पन्तजी ने बहुत सी याचनाएँ की हैं। यही पन्तजी के शब्दों में उनका 'रहस्यवाद' है—और जैसा कि उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है यह रहस्यवाद शुष्क अद्वैतवाद से भिन्न है। इसमें भक्ति भावना का भी थोड़ा सा सम्मिश्रण है। वे कोरी मुक्ति से घबराते हैं—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।

वे तो प्रियतम को अणु-अणु में व्याप्त देख कर उसकी मधुर छवि का आभास पाते हैं—

मुस्कराता था क्या तुम प्राण!
मुस्कराती थी आज विहान!

ईश्वर की महत्ता के साथ वे जीव की महत्ता भी कम नहीं मानते! वे उसके गौरव से अभिभूत हैं—'मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन' में इसी अमरता का गान है। इसी प्रकार कवि प्रकृति को भी सत्य मानता है क्योंकि वह ईश्वर का ही तो प्रतिबिम्ब है—

[illegible] का नीला विकास,
[illegible] का यह रजत हास,
[illegible] का विलास!
हे जगज्जीवन के कर्णधार!

चिर-जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन नौका विहार !

और इसी कारण उनको यह सब कुछ प्रिय है—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशु पक्षी, नर, सुर वर
सुन्दर अनादि शुभ-सृष्टि अमर !

जब जगत सत्य और सुन्दर है तो जीवन भी सत्य और सुन्दर है—अतः वे कह उठते हैं—

जगजीवन में उल्लास मुझे
नव आशा नव अभिलाष मुझे।

परन्तु क्या वास्तव में जीवन ऐसा ही है—उसमें तो "सर्वत्र ऊहापोह और क्रान्ति मची हुई है।" कवि कहता है इसका कारण यह है कि मनुष्य मानव-जीवन का अर्थवाद की दृष्टि से तत्वावलोचन कर रहा है। कवि कोरे ज्ञान को 'शून्यजृम्भामात्र निद्रित बुद्धि की' मानता है—और इसीलिए तो उसका कथन है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्वर्शों का

उसका इस विषमता के लिए (Solution) यही है "कि जीवन को पूर्ण बनाने के लिए उसके अन्तर में प्रवेश करने की आवश्यकता है—

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक।

उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर होना है। और यह कार्य, काव्य, संगीत, चित्र और शिल्प द्वारा अर्थात् स्वप्न और कल्पना की सहायता से मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानव-मूर्तियों को स्थापित करके पूरा हो सकेगा। इसके लिए वांछित उपादान हैं—

आशाऽभिलाष उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास असद् सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा सत्य प्रेम अक्षय।
मानसी विभूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता त्याग सहानुभूति—
हों स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव
संस्कृति स्वर्गीय स्वभावपूर्ति।

राजनैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व

जीवन को पूर्ण बनाने के लिए मनुष्य सदा से शासन का अभिलाषी रहा है! राजनैतिक बन्धन ही नहीं नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक अनेक शृंखलाओं में अपने को बाँध कर मनुष्य ने निष्फ्रा के अनियमों और विद्रोह से मुक्ति पाई है। परन्तु शासन कैसा होना चाहिए यह पन्तजी के मि० नीलरतन से पूछिए "इसी प्रकार चाहे राजतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र, मानव-सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य जाति की सुख समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस प्रणाली से समस्त विश्व चलता है उसे पहिचान भर लेना है।" उसके लिए शासकों को जनता के प्रति सेवकों का सा भाव होना चाहिए—यही लोक-विधान की चरम परिणति है। सुश्री कमला के शब्दों में "हमारा (आदर्श) शासक-वर्ग शासन के बाह्य रूप-रंगों से क्षुब्ध न होकर, एवं शासन नीति को हृदय की पवित्र वस्तु मानकर जनता के हृदय में दमन-भाव ही पैदा नहीं होने देता।""हमारा (आदर्श) दण्ड-विधान आत्म-भावनाओं का घातक नहीं।""कारागार सबसे बड़े विद्यालय हैं इसीलिए अब उन्हें शिक्षागार कहते हैं। हम दण्ड के बदले चारित्रिक शिक्षा देते हैं।"

सामाजिक आदर्श

पन्तजी का सामाजिक आदर्श है मि० खेर के शब्दों में—जिस प्रकार व्यक्ति समाज का मान नहीं हो सकता उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नहीं बन सकता। हमारे सामाजिक एवं वैयक्तिक आदर्शों का वैषम्य एवं विभिन्नता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। समाज एवं व्यक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करना ही होगा।" इसके लिए हृदय की शिक्षा की आवश्यकता है। 'शिक्षा हृदय की साधना है। ज्ञान-पद के मूल हृदय के सरोवर में हैं। बुद्धि से जान लेना, जान लेना नहीं। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विश्लेषी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दर्शन-मात्र करते हैं, उसे हृदय की अविराम साधना से अपने में साकार करलें। हृदय की शिक्षा में ही हमारी विश्व-संस्कृति के, मानव-प्रेम के एवं समस्त जीव-कल्याण के मूल अन्तर्हित हैं।"

संक्षेप में ज्योत्स्ना के कवि कुमार (जो स्वयं पन्तजी का ही प्रतिरूप है) के शब्दों में कवि का सन्देश है—"जन्म-मरण, सुख-दुख जीवन के बाह्य विरोधी एवं प्रतीक आविर्भावों के बीच मनुष्य को, अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर एक बार सामञ्जस्य स्थापित करना ही पड़ता है। मनुष्य के आधे से अधिक असन्तोष का कारण बुद्धि-जन्य है। जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपभोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोज कर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है, जिसके छोरों में बंधे सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि द्वन्द्व तुला के पलड़ों की तरह उठते-गिरते रहते हैं।"—और 'इसी चरम सत्य के दर्शन कराना, अनेकता में जीवन की एकता का अनुभव [illegible] कलाकार का काम है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी ने 'पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं

अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप-रंग भर कर' दर्शन की यह 'सापेक्षतः परिपूर्ण' मूर्ति निर्मित की है। उनकी यह विचारधारा विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य के रूप में उद्गीर्ण हुई है। कुछ आलोचकों का कहना है कि पन्तजी की फिलोसोफी निष्क्रिय है। परन्तु यह सत्य नहीं—वे तो इच्छा को ही जग का जीवन और साधन को आत्मा का धन मानते हैं—हाँ, परन्तु जीने की इच्छा करना छलमात्र है—इसीलिए तो वे कह उठते हैं—"ना मुझे इष्ट है साधन" और निर्झर के द्वारा हमें कर्मयोग का आख्यान देते हैं। यही सन्देश परिवर्तन में स्पष्ट हो जाता है—

अपने कर्मों के ही अनुसार
एक सा फलता विविध प्रकार।

अन्त में इसकी परिणति आत्म बलिदान में ही होकर रहती है—

महत् रे महत् आत्म-बलिदान!

जीवन और मृत्यु

कवि ने जीवन-सरिता के प्रवाह को शाश्वत माना है। अतः उसमें जन्म मरण का चिर-बन्धन लगा हुआ है। जन्म और मृत्यु इस जगत् के दो द्वार हैं—

वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात,
मूँद प्राचीन मरन,
खोल नूतन जीवन!

यदि जीवन विकास है तो मृत्यु क्रम के ह्रास का नाम है—बस! यही बात ज्योत्स्ना में स्वप्न और कल्पना कहते हैं—"जब तक हम लोग विश्व के [illegible] के इन नाम रूप के कोषों को धारण किए [illegible] निर्वाण नहीं ले सकेंगी। अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए।

बीज संसार को पत्र-पुष्प फल देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।"

सुख-दुःख

सुख और दुःख का प्रश्न भी इन्हीं से मिला हुआ है। वास्तव में कवि के ही शब्दों में—

जगजीवन में है सुख दुख
सुख दुख में है जगजीवन।

और इस संसार में रह कर सुख दुख को भूल भी कौन सका है—

सुख दुःख न कोई सका भूल।

अब हमें यह देखना है कि पन्तजी को इनमें से किस में विशेष अनुरक्ति है—उनका स्वभाव विश्व में किसकी विशेषता का अनुभव करता है। यह पन्तजी का प्रिय विषय है और इस विषय में ग्रन्थि से गुञ्जन, गुञ्जन से ज्योत्स्ना और ज्योत्स्ना से युगान्त में उनकी फिलासफी में एक विकास पाया जाता है। कवि अधिकतर जीवन को उल्लासमय ही अनुभव करता है। परन्तु प्रौढ़ कवि का यह विश्वास एक विकास का ही परिणाम है। ग्रन्थि और पल्लव का युवक कवि वेदना और आँसू के प्रति आकृष्ट होकर उनको ही जीवन का मूल-आश्रय समझता था और एक बार नहीं अनेक बार दुःखवाद का सिद्धान्त घोषित कर चुका था। ग्रन्थि में वेदना की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसने लिखा था—

वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना ही है..................।

और इसी का अनुवाद वह परिवर्तन में कर चुका था।

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।

परन्तु समय के साथ नवीन गांभीर्य्य और गांभीर्य्य के साथ ज्यों-ज्यों नवीन संयम आता गया, पन्तजी की विचार-धारा में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा। यह समय कवि का दैहिक और दैविक आपत्तियों का था। उधर पूज्य पिता का स्वर्गवास इधर अपनी रुग्णावस्था दोनों ने मिल कर उसे जर्जरीभूत कर दिया। परन्तु शीघ्र ही प्रभु की कृपा से स्वास्थ्य-लाभ कर कवि का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल गया, उसमें नव आशा, नव अभिलाषा का संचार हो गया। पल्लव का करुणा-क्लिष्ट भाव त्याग कर अब उसका मन-मधुप जीवन मधु-संचय को उन्मन होने लगा। फिर भी वह उन्मन ही था और जीवन को सुख-दुख से ही पीड़ित समझ कर वह उनके समविभाजन की प्रार्थना करता था—

जग पीड़ित रे अति सुख से
जग पीड़ित रे अति दुख से,
जग में आकर बट जाएँ
सुख दुख से औ दुख सुख से—

परन्तु धीरे-धीरे यह कसक भी निकलने लगी और उसे उसकी औषधि मिल गयी :

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक!

क्योंकि:—

अस्थिर है जग का सुख दुख
जीवन ही नित्य—चिरन्तन।
सुख दुख से ऊपर मनका
जीवन ही रे अवलम्बन।

ज्योत्स्ना में यही भावना अधिक प्रस्फुटित हो जाती है और कवि कहता है—

जग जीवन नित नव नव,
प्रति दिन प्रति क्षण उत्सव!

जीवन शाश्वत वसन्त,
अगणित काल कुसुम वृन्त,
सौरभ, सुख, श्री अनन्त।

युगान्त में पहुंच कर तो वह बिल्कुल सुलझ सा जाता है और जगत में फिर से ज्योतिर्मय जीवन लाने की कल्याण-कामना से ओत-प्रोत हो उठता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण-पत्र !

× × × ×

[illegible] विश्व में यौवन के
जग कर गा पिक, मतवाला
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव-युग की प्याली !

या—

ज्यों झरता जीवन-डाली से,
साह्लाद, शिशिर का शीर्ण-पात !
फिर से जगती के कानन में,
आ जाता नवमधु का प्रभात !

× × × ×

इस प्रकार पन्तजी अब पूर्णतया आशावादी हैं। सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर हमको ज्ञात होगा कि वास्तव में आशावादिता पन्तजी में प्रारम्भ से ही है। पल्लव में भी निराशा और करुणा के प्रवाह में आशा की अन्तर्धारा बह रही है।

मानव और प्रकृति का सम्बन्ध

अब प्रकृति और मानव का पारस्परिक सम्बन्ध रह गया। जैसा कि मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ पन्तजी प्रकृति को सजीव मानते हैं और उसकी यवनिका में एक आत्मशक्ति की क्रीड़ा का अनुभव करते हैं। वे उसके भिन्न-भिन्न रूपों में एकता ही पाते हैं—एक [illegible] आत्मा समस्त प्रकृति को अनुप्राणित कर रही है। "असंख्य [illegible] के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त वन, उप-

वन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। यह अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते।" फिर भी सभी प्रकृति के तत्व अपना पृथक् जीवन रखते हैं। हाँ, उनमें अनुस्यूत सूत्र एक ही है। शैली की भाँति पन्तजी भी प्रकृति को प्रायः पौराणिक दृष्टिकोण से देखा करते हैं। उनका भाव भी प्रकृति के आदिम निवासियों का सा हो जाता है जो ऊषा, आकाश, अरुण आदि को प्रत्यक्ष जीव-धारियों की भाँति समझा करते थे और उनके कार्य-कलापों का वर्णन भी उसी प्रकार करते थे जैसे मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों के कार्यों का। इन कविताओं में उनकी भावना शिशु की सी हो जाती है—

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतङ्गज कभी झूमते
सजग शशक नभ को चरते।

× × × ×

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्र-धनुष की कर टङ्कार।

× × × ×

ऐसा चित्रण करने की प्रवृत्ति पन्तजी में कितनी विशद है यह ज्योत्स्ना के रंग-स्थल [illegible] लगेगा। हाँ, एक बात अवश्य है—वह यह है कि पन्तजी का यह दृष्टिकोण कला की ही प्रेरणा है—उनके स्वभाव का यह अंग है, ऐसा मानने में बड़ा संकोच होता है।

मानव-स्वभाव की यह विशेषता है कि वह सहानुभूति के लिए पागल रहता है। यह भावना बढ़ते-बढ़ते इतनी तीव्र हो जाती है कि वह वस्तुओं को भी कुछ चेतन मान कर उनमें संवेदना का अनुभव करने लगता है—फिर पन्तजी तो उनको

सजीव ही मानते हैं अतः उन्हें प्रकृति के क्रिया-कम्पन में अपने हृदय के स्पन्दन का प्रत्युत्तर मिलता है। सभी प्रकृति उन्हें अपने दुख से दुखी और सुख से सुखी दीख पड़ती है। आधुनिक कविता में प्रकृति पर अपने सुख-दुख का रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पायी जाती है। देखिए अपने प्रारम्भिक वियोग की ज्वाला में जलता हुआ कवि प्रकृति को किस रूप में देखता है:—

चिनगियों से तारों को डाल,
आग का सा अँगार शशि लाल
लहकता है फैला मणि-ज्वाल
जगत को डसता है तम काल।

इसके अतिरिक्त पन्तजी कहीं-कहीं अपने व्यक्तित्व को प्रकृति से बाहर भी खींच लेते हैं और पूर्णतया पृथक (Detached) होकर सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से चित्र अंकित करते हैं—

बाँसों का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टीवी टी टुट् टुट्।

कुछ स्थलों पर कवि के प्रकृति-चित्रों में आध्यात्मिकता का भी आभास मिल जाता है। वह कभी प्रकृति को प्रियतम की प्रतीक्षा में मग्न पाता है। जैसे—

कब से विलोकती तुमको,
ऊषा आ वातायन से,
सन्ध्या उदास फिर जाती,
सूने गृह के आँगन से।

कभी वह देखता है कि प्रकृति उसे मिलन के लिए संकेत कर रही है—

उठा कर लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन!

और कभी ऐसा प्रतीत होता है मानों वह किसी अज्ञात छवि का प्रतिबिम्ब है जो उसके उल्लास से उल्लसित और वियोग से दुखी है। इस प्रकार हमें पन्तजी के दृष्टिकोणों में भिन्नता मिलती है। उनका दृष्टिकोण वास्तव में न तो शैली की भाँति सर्वथा मानसिक ही है, न वर्ड्सवर्थ की तरह आध्यात्मिक ही, और न वह कीट्स के सदृश ऐन्द्रिय ही हो सकता है। उसमें तो मानसिकता और प्राकृतिकता का भव्य-सम्मिश्रण मिलता है—कवि ने प्रकृति के ताने-बाने में मानव-आत्मा का रूप-रंग भर कर उसका अपूर्व अंकन किया है। प्रकृति पन्तजी की चिर-संगिनी है—उन की आत्मा उसमें तदाकार सी हो गयी है। प्रारम्भ में तो वे स्पष्टतया उसे मनुष्य से अधिक महत्व देते प्रतीत होते और कहते हैं—

तज कर तरल तरङ्गों को,
इन्द्र-धनुष के रंगों को।
तेरे भ्रू-भङ्गों से कैसे बिधवाऊँ निज मृग-सा मन!

किन्तु प्रकृति और मनुष्य का पारस्परिक आदान-प्रदान उन्हें अधिक रुचिकर प्रतीत होता है और उसमें उनकी वृत्ति अधिक रमती है। छाया, बादल में हमें चिरकाल से होने वाले इस विनिमय का भली भाँति अनुभव होता है। 'गुञ्जन' में आकर मानव का महत्व बढ़ जाता है और वे उसकी स्तुति इस प्रकार करते हैं—

तुम मेरे मन के मानव
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहिचाने!

इतना ही नहीं समस्त प्रकृति को मानव-हृदय की प्रतिच्छाया अथवा उसकी शिष्या घोषित कर उठते हैं—

सीखा तुम से फूलों ने
मुख मन्द देख मुसकाना,

तारों ने सजल नयन से
करुणा-किरणें बरसाना ;

और ज्योत्स्ना तथा युगान्त में पन्तजी सीधे दूसरे छोर पर दिखाई देते हैं। अब उनका कथन स्पष्ट रूप से यह है कि—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सब से सुन्दरतम !

इस प्रकार प्रकृति के कवि से पन्तजी धीरे-धीरे मानव के कवि हो गए हैं।

मानव

मानवपन की महत्ता ने उन्हें पूर्णतया अभिभूत कर लिया है। मानव का सबसे बड़ा महत्व यही है कि वह मानव है—

क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

कवि मानव का स्तुति-गान करता हुआ कहता है—

गा, कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्यस्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश काल हैं उसे न बन्धन
मानव का परिचय मानवपन !

अथवा—

देवता यहीं मानव शोभन !

वास्तव में मानव का प्रशस्ति-गान ज्योत्स्ना या युगान्त से अधिक और कहाँ मिलेगा ?

नारी

मानव-जगत में भी पन्तजी नर की अपेक्षा नारी से अधिक प्रभावित हैं, उसी का गुण-गान करना उन्हें अधिक प्रिय है।

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता ध्यान।

तुम्हारी पावनता अभिमान,
शक्ति पूजन, सम्मान !

इनके स्वर्ण-जगत की भावी-सम्राज्ञी ज्योत्स्ना भी नारी ही है। विलासी इन्दु की अशक्तता एवं ज्योत्स्ना की विशेषता के प्रदर्शन द्वारा नर के ऊपर नारी की चिर-प्रभुता का ही संकेत किया गया है। हाँ, 'युगान्त' में कवि में 'पुंसत्व' का आभास मिलने लगा है देखें आगे यह भावना कैसा रूप धारण करती है।

अन्त में सर्वांशेन दृष्टिपात करते हुए हमें पन्तजी की विचार धारा में एक विकास-सूत्र मिलता है जिससे उनके दर्शन की प्रौढ़ता का परिचय होता है। हम यह देख ही चुके हैं कि कवि के विचार, सभी समस्याओं पर, सुलझे हुए हैं। हाँ, अनुभूति की कमी, अवश्य, हृदय पर उसका एक साथ प्रभाव नहीं पड़ने देती। कवि के मस्तिष्क और आत्मा अब हृदय पर पूर्णतया विजयी हो गए हैं। बाहर से निराश होकर अब कवि स्वाभाविक रीति से अन्तरात्मा की ओर मुड़ा है और उसका अध्ययन उसे अच्छा है—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल,
भावी मानव के हित, भीतर
सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग के बाहर !

परन्तु अभी तो वह

धुन जग का दुर्गम अन्धकार
चुन नाम रूप का अमृत-सार,
मैं खोज रहा खोया प्रकाश,
सुलझा जीवन के तार तार।

यह प्रकाश अद्यावधि उसे मिला नहीं है अतः संसार के दार्शनिक भाण्डार को वह अभी कोई मौलिक देन नहीं दे सका। हाँ, भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं का अध्ययन उसका काफी पुष्ट और सुलझा हुआ है।

कला

एक फ्रांसीसी समालोचक के शब्दों में "कला प्रकृति की अनजान में की हुई विवेचना है"—"जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।" वह लेखक की सौन्दर्य्यानुभवी अन्तरात्मा का मूर्त-स्वरूप है—उसके अमूर्त भावों का वाह्य-रूप रंग में चित्रित प्रतिबिम्ब है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि अपनी कृति में सौन्दर्य्य का प्रतिफलन करने के लिए कलाकार जिन साधनों का उपयोग करता है वे सभी कला के प्रसाधन हैं। कवि-वर मैथिलीशरण ने उसे 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' कह कर इसी ओर संकेत किया है। कला शब्द में ही, मेरी समझ में, कुछ कृत्रिमता का आभास वर्तमान रहता है, तभी तो वह प्रकृति से सदैव विभिन्न समझी और कही गई है। इस निबन्ध में मैंने कला का यही अर्थ ग्रहण करते हुए, उसके सूक्ष्म भावमय (abstract) विवेचन की उलझन से बचने का प्रयत्न किया है।

पन्तजी प्रधान रूप से कलाकार ही हैं। इनके काव्य में सब से प्रथम कला का, उसके उपरान्त विचारों का और अन्त में भावों का स्थान रहता है। आपका विद्रोह सब से अधिक कला के क्षेत्र में ही प्रकट हुआ है। भावों में जहाँ आपने उपयोगिता के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया है वहीं कला में रूढ़ि और रीति की जटिलता के विरुद्ध सहज अलंकृत स्वाभाविकता का स्वरूप सन्मुख रखा है। कलकार के रूप में पन्तजी के लिए जितना कहा जाय थोड़ा ही है। कला का यह चिर-सुन्दर स्वरूप उनकी मनन-प्रवृत्ति का ही फल है। पन्तजी मनन की प्रतिभा के ही समकक्ष रखते हैं—

मनन कर मनन, शकुनि नादान
न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान !

उनकी रंगीन कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पंखों की तरह बिखर जाती है और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चात्ताप करने की ही अधिक सम्भावना रहती है। फिर भी स्थूल रूप से थोड़े से गुणों का विवेचन किया जा सकता है।

चित्रण शक्ति

सब से प्रथम जो वस्तु हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है उनकी चित्रण-कला। कवि की कल्पना इतनी सचेतन एवं प्रखर है कि प्रत्येक अनुभूति उनके सम्मुख चित्र-रूप में आती है और उसका ज्यों का त्यों अनुवादित करके वे वायु पर रंगीन रेखाएँ खींच देते हैं। काव्य, चित्र, संगीत तीनों की सरस त्रिवेणी इनकी प्रत्येक पंक्ति में नहीं प्रत्येक शब्द में तरंगित रहती है। सुहाग की मधुमयी रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई नायिका का चित्र देखिए—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद नमित पलक दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण !
मधुरता में सी मरी अजान
लाज की छुई मुई सी म्लान
प्रिये प्राणों की प्राण !

प्रत्येक शब्द एक सजीव चित्र की भाँति जड़ा हुआ है। 'जड़ित-पद, नमित-पलक दृग-पात' में ठिठकी हुई म्लानमुखी लज्जावती का रूप कितना प्रत्यक्ष है। ऐसा ही एक अल्प-व्यति-रेकित चित्र सन्ध्या का गुञ्जन में अङ्कित किया है—

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह-छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

कवि की चित्र-ग्राहिणी शक्ति कितनी प्रखर है इसका अनुमान ज्योत्स्ना में दिये हुए सन्ध्या, ज्योत्स्ना, इन्दु आदि के परिपूर्ण चित्रों और अनेकों दृश्य-विधानों (setting) के अंकन से किया जा सकता है। एक दृष्टि सन्ध्या की छवि पर तो डालिए: "—मूँगे के फ़र्श पर, धुनी रुई की तरह ढेर-ढेर कोमल सुनहला प्रकाश बिछा है; जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहिने, प्रौढ़ उम्र सन्ध्या, निष्कम्प दीपशिखा की तरह, दत्त-चित्त बैठी है! मृणाल-सी लम्बी, पतली खुली बाहें, वक्षस्थल के साँझ के उरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिंता की रेखाएँ, भौंहें पतली कुछ अधिक झुकी हुई, स्निग्ध शारद आनन, शांत गंभीर मुद्रा, कपोलों कन्धों एवं पृष्ठ भाग पर रुपहले सुनहले बाल बिखरे।" सन्ध्या का यह चित्र, पाठक देखें सुन्दर तो है, साथ ही कितना सच्चा है!

उपरोक्त सभी उदाहरण तो स्थिर-चित्रों के हैं। कवि की प्रतिभा उन्हीं तक सीमित नहीं है, उन्होंने गत्यात्मक सौन्दर्य का अंकन भी कुशलता के साथ किया है। वे चित्र चल-चित्रों के सदृश दृष्टि के सम्मुख नाचने लगते हैं—

चमक-झमक-मय, मन्त्र वशी-कर,
छहर-घहर-मय विष-सीकर।
स्वर्ग सेतु-से इन्द्र-धनुष-धर,
काम-रूप घनश्याम अमर।

कुशल-चित्र-कार की प्रतिभा का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि वह अपने चित्र में उन वस्तुओं का ही अंकन करे जो प्रभा-

बोत्पादक और आह्लादकारी हैं और अन्य साधारण, अथवा वाञ्छित प्रभाव में बाधक, सभी वस्तुओं को छांट-छांट कर अलग कर दे। पन्तजी की दृष्टि इन सार वस्तुओं को तुरन्त ही पकड़ लेती है और उन्हीं का सजीव चित्रण उपस्थित कर, चित्र में जान डाल देती है। इस चयन- प्रवृत्ति के द्वारा युगान्त में सन्ध्या का चित्र कितना पूर्ण उतरा है—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट्!

सन्ध्या की समस्त दिगन्त-व्यापिनी शोभा का चित्रण न करके कवि ने केवल दो बातें ही दिखलाई हैं—संध्या का झुट-पुट और बाँसों का झुरमुट जिसमें चिड़ियाँ 'टी वी टुट् टुट्' कर रही हैं। इन्हीं दो तत्वों ने समस्त वातावरण उपस्थित कर दिया है। आगे—

ये नाप रहे निज घर का मग,
कुछ श्रम-जीवी धर डगमग पग,
भारी है जीवन भारी पग !

में भारी पैरों से चलते हुए थके-मांदे श्रम-जीवियों के वर्णन ने तो चित्र को सभी प्रकार परिपूर्ण और सजीव कर दिया है। सभी कुशल कलाकारों की भाँति पन्तजी की चित्रण-कला की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सदैव संश्लिष्ट-योजना रहती है। वस्तु-परिगणन-प्रणाली के अनुसार उन्होंने कोई चित्रण नहीं किया।

नौका से उठती जल-हिलोर !
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल !

लहरों के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक-मुख
दिखलाता मुग्धा-सा रुक-रुक!

कहीं-कहीं यह कलाकार एक ही रेखा से अथवा एक ही अनुभाव के द्वारा भावपूर्ण चित्र खचित कर देता है, यथा 'सरलपन ही था उसका मन,' में सरला मुग्धा का भावमय चित्र कितना स्फुट अङ्कित हुआ है। अनुभाव के वर्णन द्वारा ही ऊपर दिए हुए श्रम-जीवियों के चित्र की रूप-रेखा भी खींची गई है!

चित्रमय विशेषण

कला की यही प्रवृत्ति विकसित होते होते बहुत ही संकोचशील (Concentrated) हो जाती है और कवि एक ही विशेषण के द्वारा समस्त चित्र उपस्थित करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। पन्तजी की इस अङ्कन-कला का एक महत्व-पूर्ण अंग है सचित्र-विशेषणों का चयन। वे एक ही शब्द में अपनी व्यापिनी कल्पना को समेट-सिकोड़ कर बन्द कर देते हैं। इस प्रकार के एक-शब्द-चित्र (One-word pictures) हमें उनके काव्य में सर्वत्र ही मिलते हैं। एक प्रकार से पन्तजी की कविता का यह एक अत्यन्त प्रिय प्रसाधन है। इसके मूल में साध्यवसाना का चमत्कार वर्तमान रहता है। नक्षत्र कविता तो समस्त ऐसे ही सचित्र विशेषणों से जड़ी हुई है—

'स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय!' से अधिक व्यञ्जक नक्षत्र का चित्र नहीं हो सकता! इसी प्रकार कहीं 'मारुत' को 'नभ की निस्सीम हिलोर' कहा गया है तो 'निर्झर' को 'मूक गिरिवर का मुखरित गान' कह कर उसका नादमय चित्र खींचा है। 'बापू के प्रति' कविता में 'अस्थि-शेष,' 'मांस-हीन,' 'नग्न' आदि विशेषण कितने चित्रोपम हैं। युगान्त में तितली से कवि कहता है:—

तुमने यह कुसुम-विहग लिवास,
क्या अपने सुख से स्वयं बुना ?
× × ×
वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर
क्या कहतीं यही, सुमन-चेतन।

उपरोक्त उद्धरणों में प्रयुक्त दो विशेषण, 'कुसुम-विहग' और 'सुमन-चेतन' सार्थकता एवं चित्रोपमता की दृष्टि से अमूल्य हैं, अभूत-पूर्व हैं। इन विशेषणों में केवल चित्रोपमता ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं ये भावुकता अथवा अर्थ-गाम्भीर्य-समन्वित भी होते हैं। जैसे 'बादल' को 'मेघदूत की सजल कल्पना' कहना एक सकरुण-प्रसंग की याद दिलाता है। अर्थ-गाम्भीर्य का उदाहरण बापू का 'पूर्ण इकाई' वाला सम्बोधन है। कहीं-कहीं इनकी अति भी हो जाती है और कविता विशेषणों का सूचीपत्र सी लग निकलती है—जैसे 'नक्षत्र'।

किं-बहुना पन्तजी की यह प्रयिभा अपरिमेय है। इसके मूल में उनकी रंगीन कल्पना तो है ही साथ ही अनुभूति का भी कम संयोग नहीं है। पन्तजी प्रकृति के साथ ऐसे घुल-मिल गए हैं कि उसके प्रत्येक स्वरूप का उनके निर्मल हृदय पर स्पष्ट चित्र उतर आता है और वे अपनी कला की सहायता से उसका ज्यों का त्यों चित्रण कर देते हैं। इन चित्रों में रंगों और प्रकाश के साथ स्वाभाविकता और यथार्थता पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है।

शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान

कवि अपने चित्रों की इतनी दिव्य रूप रेखा खींचने में इस लिए समर्थ हो सका है कि उस पर शब्दों के अन्तर्बाह्य दोनों का रहस्य पूर्णतया प्रकट है। उनकी अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्मज्ञान पन्तजी को है उतना हिन्दी में गिने-चुने

कवियों को ही होगा। इसी कारण उनका प्रत्येक शब्द व्यञ्जना-पूर्ण (suggestive) है। जो शब्द जहाँ पर जड़ दिया गया उसका स्थान वहीं पर निश्चित रहेगा। पन्त के लिए एक-एक शब्द मूर्त रूप रखता है अतः हमको उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न चित्रोपम प्रयोग मिलते हैं। उनकी चक्षुरिन्द्रिय जितनी अन्तर्प्रवेशिनी है श्रोत्रेन्द्रिय उतनी शिक्षित और सूक्ष्म ग्राहिणी है। शब्द को सुनते ही कानों के मार्ग से उसका अनुरूप चित्र उनकी आंखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस विषय में स्वयं कवि के ही विचार मनन करना उचित होगा। 'कविता के लिये चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों""जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।'

कहीं-कहीं उनकी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतम रहस्यों के अन्तर में प्रवेश कर जाती है और उनके शब्द-प्रयोगों में बड़ा ही तरल अन्तर मिलता है, जैसे 'प्रिय' और 'प्रि' में—

प्रिय प्रिय विषाद यह अपना,
पिय प्रि आह्लाद रे अपना।

जो संकेत और व्यञ्जना 'प्रि' आल्हाद में है वह प्रियाल्हाद में नहीं। क्योंकि आह्लाद में पृथक रहने पर, जो हृदय को खिला देने की शक्ति है वह समस्त प्रियाह्लाद में नहीं उसकी आ बहुलता में एक अनावश्यक संगठन-सा आ गया है जिससे बिखरने का भाव पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्लव के प्रवेश में पन्तजी कृत महताकाश और महदाकाश की विवेचना इसी पर प्रकाश डालती है, पहले में एक स्वच्छता और प्रकाश का आभास है तो दूसरे में घिराव का। एक उदाहरण और देने से यह गुण अधिक स्पष्ट हो जायगा—

अरी सलिल की लोल हिलोर,
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर
मेरे उर में भर यह रोर
(वीचि-विलास, पल्लव)

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल
मधुर-नू पुर-ध्वनि खग कुल रोल।
(सन्ध्या, युगान्त)

कवि ने वीचियों की ध्वनि के लिए 'रोर' और खगकुल के साथ 'रोल' का प्रयोग किया है। इस 'र' और 'ल' के सूक्ष्म अन्तर में ही एक भाव सन्निहित है—र के द्वारा लहरों का बिखरता हुआ शब्द और 'ल' के द्वारा पत्तियों का कुछ बँधा हुआ तीव्र स्वर व्यञ्जित होता है—अस्तु !

पन्त के प्रयोगों की यह व्यञ्जना शक्ति कभी-कभी इतनी विकसित हो जाती है कि एक ही शब्द समस्त वाक्य को अनुप्राणित करता रहता है, यथा—

तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें असार भव-शून्य लीन !

यहाँ इकाई शब्द के साथ पूर्ण ने मिल कर अर्थ में जितना गाम्भीर्य ला दिया है उतना और पर्य्याय शब्दों की शक्ति से बाहर था। अकेला इकाई शब्द ही इन दोनों पंक्तियों की आत्मा स्वरूप वर्तमान है। इस विषय में स्वयं कवि के ही अमूल्य विचार ज्ञातव्य हैं—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चञ्चलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, तरंग में लहरों के समूह का एक

दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है, वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती है हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्मि से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।....

वर्ण-परिज्ञान (SENSE OF COLOUR)

इस विषय में जो दूसरी बात उल्लेखनीय है, वह है उनकी वर्ण-योजना। चित्र शब्द ही वर्णों की अपेक्षा करता है। अतः प्रत्येक कुशल कलाकार को रंगों का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है। अँगरेजी के कीट्स, रोसेटी, स्विनबर्न, राबर्ट-ब्रिजेज आदि बहुत से, एवं संस्कृत के बाण-भट्ट कालिदास आदि कवि-पुंगव इस कार्य में बड़े प्रवीण थे। हिन्दी में भी विद्यापति, बिहारी, सूर आदि कवियों के कुछ छन्दों में इसका सुन्दर आभास मिल जाता है। पन्तजी की वर्ण-योजना बड़ी सूक्ष्म है। आप अपने शब्द-चयन के बल पर वही कर दिखाते हैं जो एक कुशल चित्रकार रंग, छाया और प्रकाश के चित्रण से कर सकता है। यही नहीं कहीं तो हमको रूप, रंग के अतिरिक्त स्पर्श और गन्ध का भी आस्वादन हो जाता है। गुञ्जन के 'नौका विहार' को पढ़ कर पाठक स्वयं वीचि-जाल एवं गम्भीर के स्पर्श से पुलकति हो उठता है।

चांदी के-साँपों सी रलमल, नांचती रश्मियां जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल।

इसी कविता के दूसरे पद में मन्द-मन्द संचरण करती हुई नौका हमारे सम्मुख नाचने लगती है।

आंसू कविता में वर्ण-मिश्रण की छटा देखिए—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका,

रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला।

इन्द्र धनुष के विविध रंग, कुछ धूमिल-सा रेशमी घूँघट और उससे झांकती हुई मोती-सी श्वेत मुख-छवि : सभी मिल कर एक हो गये हैं और प्रथक भी हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में आम के बौरों तथा भौरों के रंग कितनी सूक्ष्मता से चित्रित किये हैं।

रुपहले सुनहले आम्र-बौर
नीले पीले, औ ताम्र-भौंर।

अथवा

विद्रुम औ मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप।
हिम—परिमल की रेशमी वायु,
शत रत्न-छाया, खग-चित्रित नभ॥

अथवा

गहरे धुँधले, धुले सांवले
मेघों से मेरे भरे नयन।

उपर्युक्त उदाहरण रंगों के ही हैं। प्रकाश का भी पन्तजी की कविता में सम्यक् आभास मिलता है। वास्तव में स्वर्ण-रंग का प्रकाश पन्तजी को बड़ा प्रिय है। 'सोने का गान' में आप लिखते हैं—

तुहिन बन में छाई सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण-ज्वाल सी तान।
× × × ×
उषा की कनक-मदिर मुस्कान।

अथवा—

प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल!

आपकी अनेकों कविताएँ इस प्रकाश से दीप्त हैं। इस प्रकार कवि को केवल कोमल ही नहीं वरन् भयानक काले रंगों का भी पूर्ण-परिज्ञान है। उदाहरणार्थ—

रुधिर के हैं जगती के प्रात
चितानल के ये सांयकाल!

कवि के इस सूक्ष्म कौशल पर उदीयमान आलोचक पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है—"यहीं तक नहीं कवि की दृष्टि ने और भी सूक्ष्मता प्राप्त की है। अनेक पदार्थ दृश्य होते हैं पर हम उन्हें छू नहीं सकते, उदाहरण के लिए धूप तथा अन्धकार लिए जा सकते हैं, पर कल्पना के द्वारा हृदय पर पड़े हुए इनके प्रभाव को दृष्टि में रख कर इनके स्पर्श की विशेषता की भी कल्पना की जा सकती है। यह स्पर्श-ज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। गुलाबी रेशमी पत्थर यद्यपि छूने में कठोर होगा पर नेत्रों को वह मुलायम लगेगा। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर पन्तजी ने अनेक सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं। नीचे की पंक्तियों में श्यामल तम को कोमल कहा गया है। यदि वह काला अन्धकार होता तो उसे कठोर विशेषण अवश्य प्राप्त हुआ होता। रंगों का सूक्ष्म-परिज्ञान न रखने वालों को तो काले तथा श्यामल में कुछ भेद न प्रतीत होगा। पर सूक्ष्म-बुद्धि सम्पन्न कवि इन ठोस भेदों ही की अनुभूति नहीं करता है, उसे तो श्याम तथा श्यामल में भी कुछ भेद प्रतीत होता है। श्याम कुछ गहरा तथा कठोर होगा। श्यामल के लकार ने उसे उच्चारण-माधुर्य के साथ-साथ स्पर्श की सुकुमारता भी प्रदान की है—

मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल,
नव नील, नील, कोमल, कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल!

ध्वनि-चित्रण

भाव और भाषा के सामञ्जस्य, एवं स्वरैक्य के द्वारा पन्तजी

ध्वनि-चित्रण करने में भी परम पटु हैं। इसके लिए उन्होंने स्वर और व्यञ्जनों को बड़ी सूक्ष्म परीक्षा के बाद चुना है। ध्वनि-चित्रण में तो व्यञ्जनों का ही प्राधान्य रहता है, परन्तु जहाँ भावना की अभिव्यक्ति अथवा गति आदि की तस्वीर खींचनी होती है वहाँ पन्तजी स्वरों पर ही अधिक निर्भर रहते हैं— "इसका कारण यह है कि काव्य-संगीत के मूल-तन्तु स्वर हैं न कि व्यञ्जन!" "और भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण एवं उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।" इस प्रकार स्वर-संगीत की रक्षा करके उसके संकोच-प्रसार को यथावकाश देकर वे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामञ्जस्य पूर्ण-रूपेण स्थापित कर देते हैं—

पावस-ऋतु थी पर्वत-प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।

'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' में यदि लघु अक्षरों की आवृत्ति देशी बाइस्कोपों में घूमते हुए चित्रों की भाँति प्राकृतिक दृश्यों के परिवर्तन का आभास देती है, तो 'मेखलाकार पर्वत अपार' का 'आ' पर्वत के विस्तार का चित्र सम्मुख उपस्थित करता है। यही बात—

शशि की सी ये कलित-कलाएँ खेल रही हैं पुर पुर में

× × × ×

तड़ित-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर।

आदि उद्धरणों से स्पष्ट है। गति के अतिरिक्त ध्वनि का चित्रण भी कवि में सर्वत्र मिलता है। उसकी छिद्र-राग का

परिष्कृत ज्ञान है। 'विरह अहह कराहते इस शब्द को' में ह की आवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्यक्ष ही कोई कराह रहा हो।

इसी प्रकार 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में'—'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' का आभास देता है।

पन्तजी के कान स्वर पहिचानने में कितने शिक्षित हैं इसका सम्यक् परिज्ञान निम्नाङ्कित पद से आप ही हो जाएगा।

पपीहों का वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु-गम्भीर घहर।
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर।

भयङ्कर शब्द सुनना हो तो परिवर्तन के 'वासुकि सहस्रफन' की "शत् शत् फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर" सुनिए। वह अपना आख्यान आप ही है।

अप्रस्तुत योजना

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलङ्कार है। इसी को कवि इस प्रकार कहता है। "अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं......वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव, भाव हैं।" तात्पर्य यह है कि अलङ्कार काव्य के लिए

अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक हैं—प्राण न होते हुए भी शरीर के धर्म अवश्य हैं। यद्यपि इनका जीवन आरम्भकाल से ही अनेकों उत्थान-पतन देखता आया है, परन्तु फिर भी उनका कभी सर्वथा बहिष्कार नहीं हो सका। हाँ, जब कभी उनका महत्व अनुचित रूप से बढ़ गया है तो भयंकर प्रतिवर्तन अवश्य हुए हैं। इसी सत्य के अनुसार रीति-काल में जब 'भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में ही फिट रखने के लिए बुनी जाने लगी और भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बँध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो गई, तो आधुनिक युग अलङ्कारों के प्रति एक विद्रोह लेकर खड़ा हुआ, परन्तु काव्य-देश से उनका सर्वथा निष्कासन तो असम्भव था, हाँ उनकी पोजीशन अवश्य घटा दी गई और साथ ही आधुनिक विशेष-दण्ड-विधान के अनुसार उनको कुछ विदेशी शिक्षा-दीक्षा देकर संस्कृत करने का भी सफल प्रयत्न किया गया। पन्त की अलंकार-योजना में पश्चिमीय पॉलिश अधिक है—उनके ऊपर उद्धृत कथन में ही अभिव्यञ्जनावाद बोल रहा है, परन्तु भारतीय अलंकार शास्त्र के भी आप कम ऋणी नहीं हैं—विशेष कर सादृश्य-मूलक अलंकारों को तो आपने काफ़ी अपनाया है। उपमा और रूपक पन्तजी की कविता में मणियों की भाँति चमकते हैं। छाया कविता तो समस्त उपमाओं की लड़ियों में ही गुंथी है। परन्तु ये उपमाएँ सभी नवीन हैं। उनमें परम्परा की गन्ध तनिक भी नहीं है। देखिए निम्न पंक्तियों में छाया को मूर्त-रूप देने के लिए कितनी सुन्दर अप्रस्तुत-योजना हुई है—

तरुवर के छायानुवाद-सी
उपमा-सी भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी छटी नव कविता-सी।

उपरोक्त 'मालोपमा' की पहली उपमा तो प्रस्तुत से गृहीत होने के कारण उसका स्वरूप स्पष्ट करती है बाद की तीन उपमाएँ उनकी संकुलता का अनुभव कराती हैं। जैसा इन उपमाओं से स्पष्ट है हमारा कवि अमूर्त की व्यञ्जना के लिए मूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग करता हो केवल यही बात नहीं, वह प्राय: प्रस्तुत मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का उपयोग भी करता है। निम्नलिखित विधान में यह स्पष्ट हो जायगा—

धीरे धीरे संशय-से उठ
बढ़ अपयश-से शीघ्र-अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर

पन्तजी के उपमान भी प्राय: सभी रंगीन होते हैं। अस्तु!

खींच ऐंचीला भ्रू—सुर-चाप
शैल की सुधि यों बारम्बार,
हिला हरियाली का सुदुकूल
झुला झरनों का झलमल हार
जलद पट से दिखला मुखचन्द्र
पलक पल पल चपला के मार,
भग्न-उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार!

उक्त पद में शैल और उस पर विचरने वाली बालिका दोनों की सुधि को एक करके—पुन: हृदय पर भूधर रखवा कर पन्तजी ने रूपक का अपूर्व-रूप खड़ा कर दिया है। पन्तजी अपने 'अलङ्कार-विधान' में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं—वे अलंकारों की कट्टर क़वायद कभी नहीं करते। उनके बहुत से अप्रस्तुत विधान ऐसे हैं जो अलंकार शास्त्र के अनुसार किसी विशेष नाम के अधिकारी तो नहीं परन्तु उनमें साँग रूपक आदि

बहुत से अलंकारों की सहायता रहती है। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित पद लीजिए—

रूप का राशि-राशि वह रास !
दृगों को यमुना-श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणु विलास,
हृदय का वृन्दाधाम;
देवि ! मथुरा का वह आमोद,
दैव ! ब्रज आह ! यह विरह-विषाद !
आह, वे दिन द्वापर की बात !
भूति ! भारत को ज्ञात !!

अथवा गुञ्जन के नौका-विहार में गंगा का चित्र देखिये—

'तापसबाला-सा गंगा कल

× × ×

तनिक उल्लेख का वैभव भी अवलोकन कीजिये—

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसंत,
धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत !

नीचे का पद 'स्मरण' का रुचिर उदाहरण है—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्र-धनुषी हलका-
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला।
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान
मुझे तब करता अंतर्धान।

वास्तव में इस 'स्मरण' को भाव न कह कर अलंकार कहना कवि की भावुकता की उपेक्षा करना है।

एक नमूना 'संदेह' का भी द्रष्टव्य है—

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया,
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया ?

'संदेह' पन्तजी का प्रिय अलंकार है।

आधुनिक कविता के दो प्रमुख अलंकार हैं, समासोक्ति और अन्योक्ति। आजकल तथ्यों के सादृश्य-विधान के लिए प्राचीन दृष्टान्त आदि का प्रयोग न होकर अन्योक्ति पद्धति का ही अनुसरण किया जाता है। समासोक्ति के न जाने कितने रम्य उदाहरण पन्तजी की कृतियों में मिलेंगे। चाँदनी के लिए आप कहते हैं—

नीले नभ के शत दल पर
वह बैठी शारद—हासिनि !
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि !

एक व्यंग्य रूपक का सौन्दर्य देखिए—ग्रन्थि में कुसुमशराहता नायिका पर सखियाँ कैसी मीठी फबती कसती हैं—

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।

दो एक उदाहरण चमत्कार-मूलक अलंकारों के देख इस प्रसंग को समाप्त किया जाएगा। नीचे के पद में सहोक्ति और यथासंख्य की सुन्दर योजना हुई है :

(१) निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा।

× × ×

(२) विश्वानुरक्त ! हे अनासक्त !
सर्वस्व त्याग को बना मुक्ति !

में विरोध का भाव-पूर्ण प्रयोग है। 'हे नग्न! नग्न पशुता ढँकदी' में परिकर की छटा दर्शनीय है।

यह तो हुई प्राच्य अलंकारों की बात! अब थोड़ा-सा पाश्चात्य ढंग की अप्रस्तुत-योजना का विवेचन करना असंगत न होगा। पन्तजी ने अँगरेज़ी और बंगला का अच्छा अध्ययन किया है, अतः स्वभावतः उनकी शैली पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पड़ा है। विदेश में लक्षणा आदिक शब्द-शक्तियों का विवेचन नहीं है, हाँ उन पर आश्रित अलङ्कारों को विशेष महत्व दिया गया है। अँगरेज़ी अलङ्कार-शास्त्र में लक्षणा-मूलक अलङ्कारों का प्राधान्य है। अपने यहाँ लक्षणा का दूसरे प्रकार से ही विवेचन होने के कारण, इन अलङ्कारों का नाम-करण नहीं हो सका। पश्चिम के विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण ये दो अलङ्कार पन्तजी क्या सभी आधुनिक कवियों ने विशेष मनोनिवेश के साथ अपनाए हैं। इनमें पहिला भाषा की लक्षणा शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्तिमत्ता का फल है। लक्षणा में प्रायः एक चमत्कार और कुछ वक्रता का आभास रहता है। विशेषण-विपर्यय प्रयोजनवती लक्षणा पर आधृत है। विशेषण-विपर्यय के दो एक उदाहरण देखिए—

ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !
× × ×
मूक-व्यथा का मुखर भुलाव !
× × ×
वो जिनकी अबोध-पावनता
थी जग के मंगल की द्वार ! —आदि

'मूक व्यथा का मुखर-भुलाव' चरण में व्यथा नहीं वरन् व्यथित व्यक्ति ही मूक है, तथा भुलाव मुखर नहीं, भूलने वाला

है। इस प्रकार समस्त पंक्ति में दुहरा विपर्यय किया गया है, साथ ही अगोचर को गोचर रूप भी दिया गया है।

मानवी-करण के सफल प्रयोग भी कम नहीं हैं—ग्रन्थि में प्रेम के प्रति कवि की उक्ति सुनिए—

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।

स्वप्नों को मूर्तरूप देता हुआ कवि लिखता है—

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान !

अथवा—

अतल से उठ उठ हो हो लीन
खो रहे बन्धन गीत उदार।

इसी प्रकार मैटोनिमी आदि बहुत से अन्य विदेशी अलङ्कार भी पन्तजी की कविता में यत्र-तत्र मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी का अलङ्कार-भाण्डार बड़ा भरा पूरा है जिससे उनके भाषा की शक्तियों पर विस्तृत अधिकार का परिचय मिलता है। यद्यपि वे अन्य आधुनिक कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक अलङ्कार-प्रिय हैं, फिर भी उनकी समस्त अलङ्कार-साधना भावों की ही सजावट के लिए है। अप्सरा जैसी एकाध कविता ही भूषण-भार से दब कर गति-हीन हो गई है। हमारे भावुक कवि की सृजन-शील प्रतिभा दूसरों के झूठे उपादानों से ही सन्तुष्ट नहीं रही, उसने मौलिक नवीनता की भी सृष्टि की है। यह सृष्टि प्राचीन कलेवर में नवीन रूप-रंग भर देने से हुई है यथा—'चाँदी का चुम्बन कर दूर!' में चाँदी-सा के स्थान पर चाँदी का चुम्बन कहने में कितनी सुन्दर व्यञ्जना है। वास्तव में पन्तजी की अलङ्कारिक प्रतिभा मौलिक है, रचनात्मक है।

यह सब कुछ होते हुए भी पन्तजी अलंकारों की सहायता

के बिना भी कहीं-कहीं बड़ी भव्य भाव-व्यंजना करने में समर्थ होते हैं—'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर' में बालिका के अबोध भोलेपन की कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना की गई है। इस प्रकार पन्तजी में थोड़े में बहुत कहने की कला के भी दर्शन होते हैं और वे अलंकार-प्रिय होते हुए भी उन पर निर्भर नहीं रहते।

छन्द

स्वयं कवि के शब्दों में, कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। 'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन: कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।' यही नहीं वे जीवन और छन्द का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। कवि की छन्द-योजना से पता लगता है कि छन्द को अपनी उंगलियों पर नचाने से पूर्व उसे स्वयं छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ा है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने स्वयं ही अपनी इस कला की ओर संकेत किया है। उन्होंने मात्रिक और वर्णिक छन्दों में से केवल मात्रिक छन्द ही चुने हैं क्योंकि वे कहते हैं कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों में ही हो सकती है। जो कार्य, भाव जगत् में इनकी कल्पना करती है वही शब्द-जगत में राग। हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका चौपाई आदि ही कवि को अच्छे लगते हैं। प्राचीन एक-स्वरता

(monotony) को बचाने के लिए उसने उसमें बहुत से सुधार और परिवर्तन भी किये हैं अंगरेजी छन्द-योजना के अनुकरण पर, पन्तजी ने कविवर निराला के साथ, मुक्त छन्द का भी आविष्कार किया है। ग्रन्थि में आपने 'run-on-lines' का प्रयोग किया है।

और, भोले प्रेम! क्या तुम हो बने—
वेदना के विकल हाथों से जहाँ—
झूमते गज से विचरते हो, वहीं—
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।

भावों की गति के अनुसार ही इनका छन्द चलता है—अथवा यों कहिए कि भाव स्वयं ही अपने अनुकूल छन्द में फूट उठता है। उदाहरणार्थ परिवर्तन में जहाँ भावना का क्रिया कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती है, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र १६ मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एक-स्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गए हैं। यथा—

विस्वमय है परिवर्तन ;
अतल से उमड़, अकूल, अपार,
मेघ-से विपुलाकार;
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार!
अहे अनिर्वचनीय! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर,
गरज, गरज, हँस, हँस, चढ़ गिरि छा, ढा भू-अम्बर
करते जगती को अजस्र-जीवन से उर्वर!
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप-वर

अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर
अटका निर्भर ।

उपरोक्त पद में पहिले चरण से तीन मात्राएँ घटाकर एक विराम दिया गया है जो सम्बोधन के लिए आवश्यक है—उधर तीसरे में फिर चार मात्राएँ कम की गयी हैं जिससे श्रांति और निराशा की भावना द्योतित होती है, आगे रोला छन्द ऊपर लिखे नियमानुसार है। पन्तजी ने ये परिवर्तन अंग्रेजी ओड (Ode) से प्रभावित होकर किए हैं, इसी कारण उसमें सम्बोधनों की अधिकता है।

आपने छन्द में भी चित्रोपमता लाने का प्रयत्न किया है—

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर ।

गुञ्जन में आकर पन्तजी ने अधिक संयम से काम लिया है और छन्दों में अधिक उलट फेर नहीं किया गया। उसमें अनुक्रम (Symmetry) का विशेष ध्यान रखा गया है। गुञ्जन के छन्दों में भाषा की विशेष-कोमलता के कारण एक रुन-झुन मिलती है जो ज्योत्स्ना के नाट्य गीतों में एक विशेष लय और ताल से संचालित होती है। ज्योत्स्ना में कवि ने नृत्य के साहचर्य के अनुकूल गीत रचना की है, उसमें नाटकीय कौशल दृष्टिगत होता है।

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम-शिशु हुलसाये ।

अथवा—

कुन्द-धवल, तुहिन तरल,
तारा-दल ए—

लघु अक्षरों की आवृत्ति भावाभिव्यक्ति के अनुरूप होने के अतिरिक्त संगीत में भी एक विशेष स्थान रखती है।

युगान्त में आकर कवि की कला में मांसलता आगयी है— अतः उसके छन्दों में गुञ्जन या ज्योत्स्ना के गीतों की सी बिछ-लन नहीं है—उसमें पुरुष-संगीत है।

वास्तव में पन्त की छन्द-योजना विषद है। उनके प्रत्येक छन्द में राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है— कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नहीं दिखाई पड़तीं—उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार करदी गयी हैं। सारांश यह है कि उनमें पूर्ण सामञ्जस्य है। 'जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छांटता, अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता सरल-तरल ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

अन्त में, पन्तजी सुन्दर कलाकार हैं, उनकी कला रंगीन है—चटकीली! प्रारम्भ से ही उसमें एक स्वस्थ विकास दृष्टि-गोचर होता है। वीणा में कवि की शिशु कविताएँ हैं, उनमें सर्वत्र एक भोलापन मिलता है। आगे चल कर ग्रन्थि में जो कला शब्द-बाहुल्य से कुछ श्लथ प्रतीत होती थी, पल्लव में आकर वह स्वभावतः कोमलकांत हो गयी फिर भी उसमें अव-सर के अनुकूल माधुर्य और ओज, तारल्य और गाम्भीर्य पाया जाता है। गुञ्जन में कवि की मनन प्रवृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से वही संयत एवं सुख-सरल हो गयी और ज्योत्स्ना में जाकर तितली के सदृश उड़ने लगी। युगान्त में, उसमें मांस-लता आयी—महाप्राणता का विकास हुआ। उसकी रेखाएँ अब प्रौढ़ और पुष्ट हैं—उसमें पुंसत्व आ गया है। अभी वह प्रगति-शील है—विकासोन्मुख है—

पन्तजी की भाषा

भाव और विचारों की भाँति भाषा और कला का भी पृथक्करण असम्भव ही है। कला का निरूपण करते समय कवि की भाषा का भी थोड़ा बहुत दिग्दर्शन हो चुका है। यहाँ पर उसकी कुछ अन्य विशेषताएँ ही दिखाना अभीष्ट है। स्वयं कवि के शब्दों में "भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृत्तन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।" जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकाल कर हरिश्चन्द्र ने स्थिर किया, जिसको द्विवेदीय स्कूल ने परिमार्जित और नियंत्रित किया और कविवर मैथिलीशरण ने जिसे प्राञ्जल और मधुर बना कर काव्योचित रूप दिया, उसकी समस्त शक्तियों को विकसित एवं गूढ़ निधियों को प्रकाशित करने का श्रेय पन्तजी को ही है। मैथिली बाबू की भी खड़ी बोली को पढ़ कर ब्रजबोली का रसिक उसे कविता की भाषा मानने में आपत्ति कर सकता है, परन्तु पन्तजी के स्वरस्पर्श से जो उसके नेत्रों में अपूर्व ओज, कपोलों पर अनिंद्य माधुर्य और वक्ष पर दुग्धधवल प्रसाद की लहरें लहर उठी हैं उनको देख कर मतिराम और घनानन्द की लुनाई भी अपना चिरसंचित महत्व खो बैठती है। उसमें नये कटाक्ष नए रोमाञ्च, नए स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन वसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान है।

इनकी भाषा चित्रभाषा है, उनके शब्द भी चित्रमय और सजीव हैं,—[illegible] रस-मधुरिमा भीतर न समा सकने के कारण [illegible] पड़ती है। संगीत की दृष्टि से वह

लोल लहरों का चञ्चल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है। उसके प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र-हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंग-भंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। उसका संगीत स्वरों की रिमझिम में नग्न-मता, छनना-छनकता, बुदबुदों में उबलता, छोटे छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़ कर, पगों से पग मिलाकर सेनाकार भी चलते हैं और बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते कूदते भी हैं।

शब्द-चयन

भाषा की उक्त विशेषता के लिए पन्तजी अपने शब्द-चयन के ही ऋणी हैं—उसकी व्यञ्जना-शक्ति एवं ध्वनिमयता पर तो विचार किया ही जा चुका है। इसके लिए उन्होंने दूर दूर तक हाथ बढ़ाये हैं। संस्कृत की व्यंजना-पूर्ण तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य होते हुए भी ब्रजभाषा, फ़ारसी और कहीं कहीं अंगरेज़ी तक से सहायता ली गई है। तद्भव एवं देशज शब्दों का भी चित्रोपमता की दृष्टि से प्रयोग किया है। संस्कृत के अक्षय भाण्डार से पन्तजी ने रंगीन शब्दों को ही अधिक चुना है। एकाध अप्रचलित शब्द भी—जैसे प्राण, वायु के अर्थ में—आप ने ग्रहण किया है—वह भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही—'अरुन्तुद' 'त्वेष' आदि का निष्प्रयोजन प्रयोग नहीं है। कभी कभी एक पद का पद ही उठा कर रख दिया है—यथा "एकोऽहं बहुस्याम", "नानृतं जयति सत्यं मा भैः" आदि; परन्तु ये प्रयोग सदा अवसरोपयुक्त होने के कारण विशेष अर्थ का द्योतन करते हैं; जैसे उक्त दोनों पद धार्मिक वातावरण के सृजन करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार ब्रजभाषा के अजान हुई, दीठ, गुञ्जार, काजर कारे, बिकरारे आदि; फ़ारसी के नादान चीज़, तथा अंगरेज़ी के क्रम, इत्यादि दो एक शब्द स्वीकार कर

लिये हैं। बहुत से फूलों के आपने अंगरेजी नाम ही दिये हैं। 'आँखियों' 'ऐंचीला' सदृश तद्भव या देशज शब्द भी बड़े सुन्दर और स्थानापन्न हैं। यही नहीं अंगरेजी के ढाँचे में, कहीं संस्कृत प्रत्यय लगा कर, कहीं स्वतन्त्र रूप से आपने अपने कुछ सुन्दर शब्द गढ़ भी लिये हैं—उदाहरण के लिये—स्वप्निल, 'प्रि' 'ह्लाद', 'अनिर्वच', 'सिञ्जार' आदि !

विचित्र-प्रयोग

पन्तजी ने सभी प्रतिभाशालियों की भांति कुछ शब्दों का विचित्र प्रयोग भी किया है। मनोज शब्द रूढ़ है उसका अर्थ कामदेव ही है। परन्तु कवि ने 'मन' से ('शरीर' से विभिन्नता दिखाने के लिये) उत्पन्न, व्युत्पत्ति-अर्थ में ही, उसका प्रयोग करते हुए बापू के लिये फिट कर दिया है—'तुम आत्मा के मन के मनोज।' 'अछूत' का प्रयोग भी ऐसा है:—'छू अमृत स्पर्श से हे अछूत !' एक आध स्थान पर आपने किसी प्रचलित शब्द के अनुसार अपने शब्द बना लिये हैं "बिन्दुओं की छनती छनकार।" संक्षेप में शब्द और अर्थ में एकता, चित्रोपमता एवं व्यञ्जकता लाने के लिए कवि ने सर्वत्र ही सफल प्रयत्न किया है।

पद-योजना

अपने प्रयोगों में पन्तजी कालिदास कीट्स और टैगोर से अधिक प्रभावित हैं। उनकी पदावली में उक्त कवियों की प्रतिध्वनियाँ यत्र-तत्र बिखरी मिलेंगी। संस्कृत की समस्त पदावली का प्रयोग तो पन्तजी ने उल्लसित कल्पना और भावों की अभिव्यक्ति के लिये ही किया है "शतशतफेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर"। जहाँ भावना की स्वतन्त्र गति है वहाँ शब्द असमस्त ही हैं। संस्कृत तत्समों के आधार पर पन्तजी तद्भव का प्रयोग भी बड़ा ही सुन्दर करते हैं जैसे 'अकेली सुन्दरता कल्याणि!' में अकेली शब्द सकल (=पूर्ण) के अर्थ में प्रयुक्त

हुआ है। अंगरेजी की लाक्षणिक पदयोजना की छाया तो पन्त में कहीं भी मिल जायेगी। कहीं कहीं तो प्रतिबिम्ब बहुत ही स्पष्ट दिखायी देता है—जैसा 'अजान' शब्द में Innocent की झलक ज्यों की त्यों है; 'समय के-से संवाद !' में संवाद Message की हिन्दी प्रतिध्वनि ही तो है। पन्तजी ने बाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर साथ ही अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता को अत्यन्त समृद्ध और विकसित कर दिया है। उनकी भाषा में सांकेतिकता (symbolism) भी कम नहीं—ज्योत्स्ना के गीत इसके अमर उदाहरण हैं। अलंकारों की व्याख्या करते समय मैंने जो 'विशेषण-विपर्यय,' और 'मानवीकरण' इन दो अलंकारों की ओर संकेत किया था, उनमें पहिला लाक्षणिकता और दूसरा मूर्तिमत्ता का प्रसाद है। यह बात विचारणीय है कि ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया है, कवि में विदेशी छाया कम और भारतीय रंग गहरा होता गया है—युगान्त की कविताएँ मेरे कथन का समर्थन करेंगी।

इस प्रकार यद्यपि कवि की भाषा प्रधान रूप से अलंकृत ही है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसमें एक भोला सारल्य भी मिलता है—वहाँ पर व्यञ्जना शक्ति ही कार्य करती है।

मृदु बाँह मोड़ उपधान किए,
ज्यों प्रेम-लालसा पान किए;
उभरे उरोज कुन्तल खोले
एकाकिनि कोई क्या बोले

अन्तिम पंक्ति में कुछ मुँह-सा फुलाये हुए एकाकिनी बाला का चित्र व्यंग्य है।

मुहावरे एवं कहावतें

छायावादी कवियों पर ही क्या, हिन्दी के सभी कवियों पर मुहावरों का प्रयोग न करने का लाञ्छन लगाया जाता है।

मुहावरा साधारण बोल-चाल (Conversation) की चीज है इसलिए उर्दू के कवियों में उसका सम्यक् प्रयोग और हिन्दी के कवियों में प्रायः अभाव पाया जाता है। पन्तजी का काव्यालोक नित्य के व्यावहारिक संसार से ऊँचा होने के कारण उनमें 'मुहावरेदानी' और 'कहावतबाजी' नहीं के बराबर मिलेगी। हाँ, एकाध स्थान पर चमत्कार लाने के लिए आपने उनका प्रयोग किया है और खूब किया है। देखिए 'पानी पी घर पूँछनो, नाहीं भलो विचार' को इन्होंने कितना भावपूर्ण स्वरूप प्रदान किया है—

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा!

मुहावरों का प्रयोग भी जहाँ हुआ है, वहाँ अपनी एक खास खूबी रखता है।

अरे वे अपलक चार-नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय।

कहीं-कहीं अंगरेजी के मुहावरों का भी बड़ा ही अच्छा और व्यञ्जनापूर्ण व्यवहार किया है। निम्न पद में रेखाङ्कित (underline) करने की भावना का प्रयोग बड़ा ही खरा उतरा है।

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में,
अचल रेखाङ्कित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

व्याकरण

पन्तजी के शब्द जिस प्रकार एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध रहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश

में पत्तियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं; साथ ही अपने कलापूर्ण स्वभाव वैषम्य के अनुसार वे स्थान-स्थान पर व्याकरण की कड़ियाँ तोड़ भी देते हैं। वे कहते हैं कि जो शब्द केवल अकारान्त या इकारान्त के अनुसार पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गये हैं और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामञ्जस्य नहीं मिलता उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित सी हो जाती है। इसीलिये प्रभात तथा उसके अन्य पर्यायों का जहाँ एक ओर स्त्रीलिंग में प्रयोग है, वहीं बूँद, कम्पन आदि का परिमाण के अनुकूल उभय लिंगों में। इसी प्रवृत्ति के अनुसार—अर्थात् शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये आपने संस्कृति के सन्धि-नियमों का भी उल्लंघन कर दिया है—जैसे 'मरुताकाश' में। साथ ही अनेक स्थलों पर कर्त्ता के अनुसार क्रिया का लिंग-निश्चय किया है। उदाहरणार्थ "बालिका मेरी मनोरम मित्र थी'। इसी प्रकार शब्दों में प्रयुक्त कठोर व्यञ्जनों को विशेषकर 'ण' को भाव के अनुसार सर्वत्र ही कोमल कर दिया है। पन्तजी के इस स्वभाव-वैषम्य पर रूढ़ियों के उपासक कुछ भी कह लें, परन्तु उनकी कलात्मक आवश्यकता पर सन्देह करना सरल नहीं।

शब्दालंकार

शब्दालंकार भाषा की वसन-सज्जा के उपकरण होने के कारण भाषा के अंग हैं। जैसा कि ऊपर किए हुए विवेचन से स्पष्ट है पन्तजी ने कवि-श्री की शृंगार-साधना में बड़ा कौशल दिखाया है। संयत अनुप्रास की छटा तो आपकी चित्रमय भाषा में सर्वत्र ही मिलेगी, श्लेष, पुनरुक्ति, यमक का भी चमत्कार स्थान-स्थान पर मिल जायगा, परन्तु अधिक नहीं।

श्लेष का सुन्दर प्रयोग देखिये—

दीनता के ही प्रकम्पित पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।

नीचे की पंक्तियों में यमक का चमत्कार है—

तरणि के ही संग तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ तुल्ययोगिता का प्रयोग भी कम सुन्दर नहीं। पुनरुक्ति तो कवि का प्रिय साधन है ही—

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुञ्ज पुञ्ज
चिर सुभग सुभग!
× × ×
मृदु मंद मंद, मंथर मंथर।

अन्त में दो एक प्रयोग अनुप्रास के देखकर इस प्रसंग को समाप्त किया जावे। वास्तव में कविता की शृंगार-साधना में अनुप्रास का वही स्थान है जो रमणी की वसन-भूषा में नूपुरों का। जिस प्रकार सुन्दरी के प्रत्येक पद-न्यास पर नूपुरों से एक मधुर झनकार उठकर रसिकों के कर्णकुहरों में अमृत-वर्षा करती है, इसी प्रकार कविता के भी प्रत्येक पद-न्यास पर अनुप्रास की झनकार रसज्ञों के श्रुतिपुट में मधु घोल देती है। सुनिये पन्त जी की कविता कामिनी भौंरों से खेल रही है।

वन वन उपवन
छाया उन्मन उन्मन गुञ्जन
नव वय के अलियों का गुञ्जन!

सारांश यह है कि पन्त की भाषा हिन्दी के परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। उसमें हिन्दी की समस्त शक्तियों का विकास है। शाब्दिक शिल्पशिता कवि में प्रारम्भ से ही मिलती है, धीरे-धीरे उसकी शक्ति का विकास होता गया है। युगान्त की भाषा इसका दिव्य प्रमाण है। उसका प्रत्येक पद सबल, गठित और सार्थक है। भाव की समस्याओं की व्याप्ति में परिपुष्ट और सबल

हैं। 'ज्योत्स्ना में २६ पृष्ठ पर पवन का अभिभाषण सुनिए।

पन्तजी काव्य के पण्डित हैं—उन्होंने भिन्न-भिन्न जाति और भाषाओं के साहित्य का अध्ययन और मनन किया है। इसी कारण उनकी भाषा में जगह-जगह रुचिर प्रसंगों का पुट है, जो भाषा की सौन्दर्य-श्री को संवर्धित करता है। निम्न पंक्तियों की सुन्दरता पर विचार कीजिए—

कहाँ मेघ औ हंस ! किन्तु तुम
भेज चुके सन्देश अजान।
तुझ मरालों से मन्थर घन,
जुड़ा चुके हो अगणित प्राण !

कवि की भाषा का यह प्रसंग-गर्भत्व उसकी प्रौढ़ता का परिचायक है। उसमें धारा-प्रवाह तो अपूर्व है ही—सर्वत्र ही एक अपूर्व गति और वेग भी है जो पाठक के मन को बरबस अपने साथ खींच ले जाता है।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन पल में साकार।
काल-चक्र में चढ़ते गिरते
पल में जलधर, फिर जलधार।

उक्त उदाहरण में उसका एक साधारण परिचय मात्र मिलता है। पन्त जी की भाषा की गति सदैव उनके भावों की गति के अनुसार चलती है—बादल की भाषा में धुआँधार अप्रतिहत वेग है, विचि विलास में कहीं चपलता और कहीं सरकने का आभास है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर उड़ते हुए चित्र दिखाकर पन्तजी ने इस सिनेमा-युग के प्रतिबिम्बित्व का परिचय दिया है।

हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है : भाषा उसके कलात्मक संकेत पर नाचती है। करुण शृंगार में यदि उसका उन्मन गुंजन सुनाई पड़ता है, तो वीर और भयानक में वह अग्नि कण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है—हाँ, कभी कोई नहीं रहा !!

पन्तजी पर बाह्य-प्रभाव

पन्तजी मननशील कवि हैं। अपनी प्रकृति-दत्त प्रतिभा के उचित संस्कार के लिए उन्होंने बहुत दिनों तक संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी की काव्यशालाओं में अध्ययन किया है। अतः, स्वभावतः ही उन पर कुछ प्राचीन तथा नवीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। ऐसे प्रभावों का होना—अथवा कहीं कहीं कुछ प्रतिध्वनियों का भी अस्तित्व कवि की महत्ता पर कोई लाञ्छन नहीं ला सकता—यह पुरानी बात है, क्योंकि इस प्रकार संसार के लगभग सभी (आदि-कालीन को छोड़कर) कवियों को अपने गौरव से हाथ धोना पड़ेगा। इसलिए इस प्रश्न को यहीं छोड़ कर आइए यह देखें कि पन्त जी के काव्य जीवन को संसार के किन किन महाकवियों से प्रेरणा मिली है। वास्तव में यह प्रेरणा है भी इतनी प्रत्यक्ष, कि निराला [illegible] से असहमत होते हुए भी हम उन पर [illegible] बंगला के रवीन्द्र और अंगरेजी के शैली, कीट्स एवं टैनीसन आदि का ऋण अस्वीकृत नहीं कर सकते।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि हमारे इस युग ने जिस वातावरण में आँखें खोलीं वह विद्रोह का था। जिस प्रकार मुसलमानी राज्य के विलासी अकर्मण्य जीवन के विरुद्ध जनता में भावनाएँ जाग्रत हो रही थीं इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी रीति-काल के निर्जीव साहित्य के प्रति उसकी प्रवृत्ति बदल रही थी। अब उसकी आँख 'स्तन, रद, नयन, नितम्ब' के स्थूल सौन्दर्य से हट कर आन्तरिक सौन्दर्य की खोज करने लगी थी। इधर जब पाश्चात्य साहित्य से संसर्ग हुआ तो हमारे साहित्यकारों

को एक नई दुनियाँ मिली। उसका अध्ययन करने पर उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी का रोमांटिक युग अपने समय के अनुकूल प्रतीत हुआ। अतः उसी की ओर वे अधिक आकृष्ट हुए। बंगला के लेखक पहिले से ही उधर जाने लगे थे और रवीन्द्र बाबू उस समय तक विश्व कवि हो चुके थे। हिन्दी के उदीयमान कवियों पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

पन्तजी की प्रारम्भिक वीणा-सीरीज़ की कविताओं पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। उनके चित्ररेखाकार—श्री दीनानाथ पन्त के अनुसार रवीन्द्र तथा सरोजिनी नायडू की कविताओं से उनके भीतर एक प्रकार के अस्पष्ट सौन्दर्य-बोध तथा माधुर्य का जन्म हुआ। इसी समय जब वे काशी में पढ़ते थे उन्होंने बंगला का भी थोड़ा बहुत अध्ययन किया और चयनिका तथा गीताञ्जलि की कविताओं का रस लिया। 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' गीत पर रवि बाबू के 'अन्तर मम विकसित कर' की छाया है। इन सभी गीतियों पर गीताञ्जलि की प्रार्थना-परक कविताओं का प्रभाव प्रत्येक पाठक को एक बार पढ़ने पर ही विदित हो जायगा। निरालाजी की भाँति इधर-उधर से पंक्तियाँ एकत्रित कर उनकी आलोचना करने का तो कोई अर्थ नहीं। उनके अन्तर्बाह्य, शैली और भावों में गीताञ्जलि की ध्वनि है ही, परन्तु साथ ही उदीयमान कवि का अपना तुतला व्यक्तित्व भी उनमें मिलेगा। और भी कुछ विशेष कविताओं में रवीन्द्र की प्रेरणा है जैसे 'अप्सरा' में 'उर्वशी' की। कुछ पंक्तियों में प्रतिध्वनि भी स्पष्ट है—उदाहरणार्थः—

द्विधाय आवेत-पदे, कम्पवक्षे, नम्र नेत्र-पाते
स्मितहास्ये नाहि चल, सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्धराते। (उर्वशी)

× × × ×

अरे वह प्रथम-मिलन अज्ञात
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित-पद नमित पलक दृग-पात
पास जब आ न सकोगी प्राण !
(भावी पत्नी के प्रति)

तरंगित महासिन्धु मंत्र-श्रान्त, भुजङ्गेर-मत
पड़ेछिल पद-प्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत करि अवनत।
(उर्वशी)

× × × ×

अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के, विक्षत वक्षस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों उद्धरणों में पन्तजी ने अधिक प्रकाश और जीवन फूँक दिया है—पहले में 'ज्योत्स्ना-सी चुपचाप' के द्वारा और दूसरे में 'शत-शत फेनोच्छ्वसित' की 'स्फीत फूत्कार से'। इधर कवीन्द्र के 'चम्पक का गीत' 'सौन्दर्य का गीत' आदि गीतों से ही ज्योत्स्ना के प्रतीकात्मक गीतों को कदाचित् प्रेरणा मिली हो।

ग्रंथि में विशेष कर, साथ ही अन्यत्र भी, संस्कृत कवियों का प्रभाव है। ग्रंथि के प्रणयन काल के आस पास कवि संस्कृत का अध्ययन कर रहा था, इसी कारण वीणा की अपेक्षा ग्रंथि में तत्समता का आधिक्य है और अलंकारों का ऐसा प्रयोग भी पन्त में अन्यत्र नहीं मिलेगा। ग्रंथि के विरह-विलाप की शैली रघुवंश के अजविलाप से समानता रखती है। पन्तजी की चित्रण-सामग्री पर विशेष कर उनकी चटकीली वर्ण-योजना पर कालि-दास का प्रभाव है। एक आध स्थान पर उनकी ऐको भी स्पष्ट

है। उदाहरणार्थ शाकुन्तलम् के सप्तम अङ्क में यान के उतरने का दृश्य ज्योत्स्ना के तृतीय अङ्क के सदृश दृश्यसे पूर्ण साम्य रखता है।

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः
सन्तानैस्तनुभावनष्ट सलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते।

—शाकुन्तलम् (अङ्क ७, श्लोक ८)

ज्योत्स्ना देख रही हूँ—दूर से, शून्य दिगंत में झूलती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी, और नीचे उतरने पर जो भूमि-रेखा समुद्र के उल्लसित वक्ष में मुँह छिपाए स्तनपान करते हुए शिशु सी लगती थी, वही पास पहुंचने पर, उच्चहिम-किरीट से शोभित सरिताओं से चंचल मुक्ताहारों से मण्डित शस्यश्यामल अञ्चला, अनन्त मन्नाम प्राणियों की पुण्य धात्री अचला के रूप में बदल गई है.......। बीच-बीच में लम्बे, पतले, सांपों की तरह बल खाए टेढ़े-मेढ़े रास्ते हैं।' (ज्योत्स्ना, ३ अङ्क)

उक्त उद्धरण में क्या हमारे कवि ने महाकवि के ऋण को ब्याज सहित नहीं चुका दिया ? रसिक-समाज निर्णय करेगा।

जिन दिनों पन्तजी प्रयाग विश्व-विद्यालय में पढ़ रहे थे, वहाँ के अंगरेजी वातावरण ने उनको पश्चिमी कवियों की ओर आकृष्ट किया। अब पन्तजी पर रोमाण्टिक कवि शैली, कीट्स-और विक्टोरियन टैनीसन का प्रभाव स्पष्ट रूप में पड़ा। उन पर सब से अधिक ऋण कविवर शैली का है—भारत के अन्य कवियों पर भी—जैसे डा० टैगोर, देवी सरोजिनी, श्रीमती वर्मा आदि पर उसका प्रभाव सर्वाधिक है क्योंकि उसका आदर्शवाद और रंगीन कल्पना भारतीय हृदय के अनुकूल है। पन्तजी में प्रारम्भ से ही एक प्लैटोनिज्म के दर्शन होते हैं, जो गुञ्जन, ज्योत्स्ना और पाँच कहानियों में

आकर अधिक परिपुष्ट हो गया है। यह प्लैटोनिज्म अगर मैं भूल नहीं करता, उनको शैली से ही प्राप्त हुआ है। कल्पना और स्वप्न की सहायता से एक आदर्श साम्राज्य-स्थापन की भावना जिसमें स्नेह, सौन्दर्य और सहानुभूति का प्रचार एवं प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक और जीवन का नवीन आदर्श होगा" शैली की आदर्श-भावना (Idealism) से पूर्णतया मिलती है। शैली ने भी अपने प्रोमीथियस अनबा-उन्ड में एक ऐसे जीवन का सन्देश दिया है जिसमें मानवता की मुक्ति, भ्रातृत्व, प्रेम, समानता, स्वतन्त्रता, आध्यात्मिक पवित्रता, एवं रूढ़ि मुक्तता का प्रचार होगा। यह संसार एकान्त सुन्दर और मानव के अनुकूल होगा। फिर भी शैली और पन्त दो व्यक्ति हैं, शैली का सा आवेश पन्तजी में कहाँ, साथ ही पन्तजी का सा चिन्तन और शान्ति शैली में अप्राप्य हैं। कला की दृष्टि से, पन्तजी की रङ्गीन कला और सस्वर ढुलकते हुए पदों में शैली के शिष्यत्व का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ कविताओं पर शैली का स्पष्ट प्रभाव है—पन्तजी के बादल को शैली के Cloud से प्रेरणा मिली है। उन दोनों की प्रथम पुरुष वाली शैली, प्रवाह, और कहीं-कहीं भाव और शब्दावली भी एकसी है। फिर भी पन्तजी ने 'बादल' में शैली के Cloud के विरुद्ध ही अपना दृष्टिकोण रखा है—अर्थात्—शैली का बादल स्वर्ण और रजत-रश्मियों से, सूर्य और चन्द्रमा से खेलने वाला बादल है, उनकी चित्र-सामग्री भी सभी रम्य है; परन्तु पन्तजी ने बादल का धूमधुआँरा रूप अधिक ग्रहण किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शैली ने उसका 'विकट महा आकार' नहीं अपनाया है अथवा पन्तजी ने बादल के कोमल स्वरूप का सर्वथा बहिष्कार किया है, परन्तु विशेषता एक में कोमल स्वरूप की और दूसरे में भयंकर की है।—कुछ समान पंक्तियां देखिए—

While I sleep in the arms of blast.

जगत्-प्राण के भी सहचर !

The Sanguine sun-rise with his meteor eyes
And his burning plumes outspread

उदयाचल से बाल हंस फिर उड़ता अम्बर में अवदात
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी........................

While I widen the rent in my wind-built tent

कभी हवा में महल बनाकर
सेतु बाँध कर कभी अपार।

चील, गृद्ध, मधु-गृह आदि की चित्र-सामग्री (Imagery) दोनों में एक सी है। फिर भी हमारे कवि की कविता सर्वथा मौलिक है। ऊपर दिए हुए उद्धरणों से पूर्णतया स्पष्ट है कि उन्होंने प्राप्त सामग्री को सर्वथा स्वतन्त्र रूप दे दिया है—पहिले में जगत-प्राण ने भाव को ही बदल दिया है, दूसरे में बाल हंस की कल्पना ने मौलिकता ला दी है, और तीसरे में सेतु-बाँधने का नवीन आयोजन है। शैली के पद कुछ बड़े होने के कारण उसके चित्र कुछ अधिक पूर्ण हैं परन्तु पन्तजी के पदों में गति का जितना सुन्दर चित्रण है उतना शैली के क्लाउड में नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ पंक्तियों में शैली के अध्ययन की प्रतिध्वनियाँ भी मिल जाती हैं।

Spouse, sister, angel, pilot of the Fate !

(Epipsychidion)

देवि, मा, सहचरि, प्राण !

उपरोक्त पंक्ति को सम्भवतः प्रेरणा तो प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक से मिली है परन्तु इन विशेषणों को एक पंक्ति में जड़ देना कदाचित् शैली से सीखा गया है।

All the earth and air,
With thy voice is loud. (Skylark)

मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषराण उद्यान।

Teach me half the gladness.
That thy brain must know,
Such harmonious madness
From my lips would flow.

सिखादो ना हे मधुप कुमारि।
मुझे भी अपना मीठा गान।

उक्त पंक्तियों में 'टोन' का ही साम्य है।

× × × +

Unfathomable sea! whose waves are years,
Ocean of time whose waters of deep woe
Are brackish with salt of human tears!
Thou shoreless flood, which in the ebb and flow
Claspest the limits of mortality
And sick of prey, yet howling on for more
Vomitest thy wrecks on its inhospitable shore,
Treacherous in calm and terrible in storm
Who shall put forth on thee
Unfathomable sea?

अहे महाम्बुधि! लहरों से शत लोक चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुङ्ग-तरङ्गों-से शत युग, शत शत कल्पान्तर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह उडुगण,
जलते बुझते हैं स्फुलिंग-से, तुम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन मन
तुम्हीं चिरन्तन
अहे विवर्तनहीन विवर्तन!

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से कवि की प्रतिभा अथवा मौलिकता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब अध्ययन द्वारा पड़े हुए संस्कार ही हैं। साथ ही पन्तजी ने कहीं भी भाव को बिगाड़ा नहीं है—उनकी तूली के स्पर्श से वह अधिकतर चमक ही उठा है। पन्तजी में भारतीयता का अभाव कहीं नहीं मिलता—उनके बादल में भारतीय काले बादल का ही चित्र है विदेश के (Hoary cloud) का नहीं।

पन्तजी के कुछ ऐन्द्रिय चित्रों पर कीट्स की छाया है। परन्तु इस कवि से उनका कोई विशेष साम्य नहीं। कीट्स सर्वथा ऐन्द्रिय सौन्दर्य में विश्वास रखने वाला कवि था जिसका पन्तजी के आदर्श-लोक से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो अपने देश काल से सर्वथा विरक्त था और अपनी सौन्दर्य-पिपासा शान्त करने के लिये सुवर्ण के देश (Realms of gold) में चला जाया करता था। ज्योत्स्ना के 'ज्योत्स्ना,' 'इन्दु' के चित्रों में तथा 'भावी पत्नी के प्रति' कविता आदि में कीट्स की कला की मादकता मिल जाती है।

पल्लव के बाद की कविताओं में टेनीसन की स्वर-साधना का प्रभाव अधिक स्फुट-सा प्रतीत होने लगता है। पन्तजी के 'नौका-विहार' में टेनीसन की सी घुलती हुई स्वर-मिश्री माधुर्य है साथ ही उनमें विक्टोरियन युग के इस मस्तिष्क-प्रधान कवि का सा ठंडापन (chill) भी मिलता है। 'युगान्त' की 'गा कोकिल बरसा पावक कण!' कविता में (In Memoriam) की प्रतिध्वनि भी सुन पड़ती है, सुनिए—

Ring out the old, ring in the new.

× × × ×

नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।

Ring out......... cause,
And ancient forms of party strife

× × × ×

Ring out the false pride in place and blood,
The civic slander and the spite

× × × ×

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अन्ध-नीड़-से रूढ़ि-रीति छन,
व्यक्ति-राष्ट्र-गत रागद्वेष रण,
झरें मरें विस्मृति में तत्क्षण।

× × × ×

इसके अतिरिक्त एक आध स्थान पर वर्ड्स-वर्थ का भी प्रभाव कदाचित् मिल जाये।

कौन तुम गूढ़ गहन-अज्ञात!

Thou best philosopher, ever blest!

आगे— खेलती अधरों पर मुस्कान
पूर्व सुधि—सी अम्लान।

में 'इनेमनैसिस'—पूर्व-जन्म-सिद्धान्त का स्वर स्पष्ट है।

अन्त में, जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ, यह कवि चिन्तनशील एवं अध्ययन-प्रिय है। उसने भिन्न-भिन्न साहित्यों का चर्वण किया है—उसी के संस्कार-स्वरूप कुछ प्रतिध्वनियां उसकी कविता में मिल सकती हैं। परन्तु वे किसी प्रकार उसके निर्मल कवि-यश पर धब्बा नहीं लगा सकतीं। क्योंकि जैसा कि मैं संकेत करता आया हूँ वह किसी से पीछे नहीं पिछड़ा, यदि भाव कहीं से उठाया भी है तो उसे अपनी बहुरंगी कल्पना से अधिक चित्रमय ही नहीं कर दिया वरन् अपना भी बना डाला है। साथ ही यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी कौन सी कविता पर किसी अन्य कवि-विशेष की छाप है—ऊपर जो कुछ लिखा है अनुमान द्वारा ही। वास्तव में यह प्रमाणित है जानते हुये भी कि खाया हुआ भोजन शरीर में रक्त, मांस, आदि तत्वों में परिणत अवश्य हो जाता है, इस बात को कोई भी एकान्त निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि भोजन के किस तत्त्व का क्या बना! अस्तु।

कृतियों का एक अध्ययन

कवि की विशेषताओं का थोड़ा बहुत परिचय देने के उपरान्त उसके ग्रन्थों की एक समालोचना उपस्थित करना अनुचित न होगा। वास्तव में उसकी प्रतिभा के विकास का अध्ययन करने का यही एकमात्र उपाय है। हमारे इस अमर कलाकार ने किस प्रकार सर्वप्रथम वीणावादिनी के चरणों में बैठ कर वीणा उठाई और अब किस प्रकार आकर युगान्त कर दिया, यह जानने के लिए हमें वीणा से युगान्त तक उसकी सभी कृतियों पर दृष्टिपात करना अनिवार्य होगा।

कवि के चित्ररेखाकार श्री० दीनानाथ पन्त के अनुसार, जब वे दशवीं कक्षा में पढ़ते थे तभी से उन्होंने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था—उस समय उनकी कविताओं के विषय 'तम्बाकू का धुआँ' 'कागज कुसुम' आदि होते थे। ये रचनायें उस समय के हस्तलिखित सुधाकर एवं हिमालय, अलमोड़ा अखबार, मर्यादा आदि में देखने को मिल सकती हैं। इनमें पन्तजी की भावी कला का आभास स्पष्टतया मिलता है और इस कारण वे अवश्य अपना विशेष मूल्य रखतीं परन्तु पन्तजी ने उन सभी को नष्ट कर दिया। इनसे भी पूर्व वे 'हार' नामक एक उपन्यास लिख चुके थे जिसकी पाण्डु लिपि नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। अस्तु, उनकी सर्व प्रथम कृति जो प्रकाशित रूप में हमें मिलती है 'वीणा' ही है यद्यपि यह पल्लव के उपरान्त सन् १९२७ में निकली थी।

वीणा

वीणा, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है, उसका दुधमुँहा

प्रयास है। 'इस संग्रह में दो एक को छोड़ अधिकांश सब रचनाएँ सन् १९१८–१९ की लिखी हुई हैं। उस कवि जीवन के नव-प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर-नूपुर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय-सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा मन्द कवियशः प्रार्थी निर्बोध, लज्जाभीरु कवि वीणावादिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर साधन करते समय, अपनी आकुल उत्सुक हृत्तन्त्री से, बार बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमर्थ अँगुलियों के उलटे सीधे आघातों-द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट झङ्कारें जागृत कर सका है, वे इस वीणा के स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं।'

इन कविताओं में पन्तजी का बाल-कवि उड़ने के लिये पंख फड़फड़ा रहा है। ये प्रारम्भिक कवितायें गीताञ्जलि से प्रभावित होने के कारण अधिकांश में प्रार्थना-परक हैं। कहीं भीरु-चरण कवि वीणावादिनी से गीत सिखाने की प्रार्थना करता है तो कहीं विश्वात्मा माता से ज्ञान बल और भाव प्रदान करने की विनय करता है—

मेरे चञ्चल मानस पर—
पादपद्म विकसा सुन्दर,
बजा मधुर वीणा-निज मात!
एक गान कर मम अन्तर।

इसके अतिरिक्त बहुत सी कविताओं में कवि आत्मोत्सर्ग की कामना करता हुआ बड़ी सुन्दर और भावमय मिन्नतें करता है—

तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर
कुमुद किरण से सहज उतर
माँ, तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूं।

इन प्रार्थना-परक कविताओं में इस प्रकार के गीत ही सबसे अधिक कोमल, एवं भाव-समन्वित हैं। बालिका के रूप में नवोढ़

कवि प्रकृति की विभूतियों को देखकर उन पर मुग्ध हो जाता है और उनमें पूर्ण रूपेण घुल मिल जाने के लिए आतुर हो उठता है। यह आतुरता इतनी बढ़ती है कि कवि अपना अस्तित्व ही उन पर निछावर करने को व्यग्र होजाता है। इन सभी कृतियों में कवि के विश्व-प्रेम की झलक है—वह संसार के लिए अपना उत्सर्ग करने को उत्सुक है—

कुमुद-कला बन कल-हासिनि,
अमृत-प्रकाशिनि नभ-वासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा!
जग का तिमिर-त्रास हर दूँ!

कुछ कविताओं में यह भावना और भी गम्भीर हो जाती है और हमें कुछ रहस्यात्मक रचनाओं के भी दर्शन मिलते हैं। पन्तजी का अबोध भावुक कवि विश्व की रचना देख कर मूढ़ हो जाता है, उसके हृदय में अगणित प्रश्न उठते हैं। वह समस्त विश्व में एक प्रकार की आकुलता पाता है और उसकी खोज में स्वयं आकुल हो उठता है। गहन अन्धकार में भी खद्दते हुये जुगनू को देखकर कवि पूछता है—

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत?

और कभी प्राकृतिक विधानों में उस चिर-लुप्त प्रियतम को पाकर उसकी ओर बढ़ने का निष्फल-प्रयास करने लगता है—

हुआ था जब सन्ध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहग-रव बनकर मैं चितचोर!
गारहा था गुण, किन्तु, कठोर!
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक!
निठुर, यह भी कैसा अभिमान?

ऐसी कविताओं में कहीं-कहीं दार्शनिक भावनाओं का भी पुट लगा होता है।

तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था
एक ज्योति बनकर सुन्दर
तू उमंग थी मैं उत्पात !

× × × ×

"वैसे ही तेरा संसार—
अति अपार यह पारावार
नहीं खोलता है मां ! अपने
अद्भुत-रत्नों का भण्डार;
प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार
(तुलसी-माला, या मणि-हार)
या ! प्रतिबिम्बित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार
दिखलाई देती तब इसकी
विश्व-मूर्ति अति सदय उदार !

नीचे की पंक्तियों में माया का कितना विशद वर्णन है।—

उस छवि के मञ्जुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मन में दुख पाता है।
बालू का प्रति-कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार,
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण-सरित की धार !

एक झलक प्रतिबिम्बवाद की भी देख कर इस विषय को समाप्त किया जाता है।

मा! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूंगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पन में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वीणा की ये सभी कवितायें वास्तविक रूप में दर्शन-प्रधान नहीं हैं। कवि किसी विशेष फिलासफी को अपना भी नहीं सका है।

इन दार्शनिक कृतियों का महत्व होने पर भी वास्तव में जो कवितायें 'वीणा' की प्राणस्वरूपा हैं वे सभी भावना-प्रधान हैं। पन्तजी की भावुकता की सबसे बड़ी विशेषता है उसका मार्दव। जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है हमारा कवि मानव-हृदय की ऊर्मिल प्रवृत्तियों को ही गुदगुदाने में परम पटु है। वीणा में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। उसमें सर्वत्र ही मानव जगत का, अथवा प्राकृतिक विश्व के द्वारा कवि के अस्फुट हृदय पर पड़े हुए झिलमिल प्रतिबिम्बों का ही चित्रण विशेष है। ऐसी कवितायें छाया, अन्धकार, किरण, सरिता, प्रथमरश्मि का आना, चातक, माँ आदि हैं। इन समस्त कविताओं में भावना का एक कोमल तार गुम्फित है—कवि की सूक्ष्म दृष्टि का पूर्ण परिचय हमें यहीं से प्राप्त होने लगता है—वह प्रत्येक वस्तु के अन्तर में प्रवेश करने की क्षमता रखता है—अन्धकार से वह कहता है—

जब तुम मुझे गभीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान!
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण!

एक साधारण सी बात को कवि ने कितनी तीव्र दृष्टि से पकड़ा है और किस विचित्रता से अङ्कित किया है!

सरिता के ऋजु प्रवाह को देख कर उसके हृदय में कितने सूक्ष्म भाव जागृत होते हैं—

वह न कभी पीछे फिरती है—
कैसा होगा उसका बल—
एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
उसके तरल मृदुल उर में

× × × ×

'वह न कभी पीछे फिरती है'—अथवा 'हृदय में ग्रन्थि का न पड़ना'—इन उद्धरणों में कवि ने सार्थक शब्दों में साधारण तथ्य का प्रकटीकरण किया है।

इसी सूक्ष्म-दर्शिता का परिचय उसने निर्झर की अजस्र झरझर के चित्रण में दिया है—

भूरि भिन्नता में अभिन्नता
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग

बालकवि की प्रकृति-विषयक अनुभूति का एक नमूना देखिए :

छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत्तन्त्री के तार
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुञ्जार!

'वीणा' की 'प्रथम रश्मि का आना' कविता पन्तजी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में है। उसमें अनुभूति, कल्पना, सूक्ष्म-दर्शिता और संगीतमय प्रवाह सभी का सुन्दर संयोग है। भाषा संकेतात्मक और प्राञ्जल है। प्रथम रश्मि के आभास मात्र को ही पाकर बाल-विहङ्गिनी एक साथ कूक उठी और क्षण भर में उस नभ-चारिणी ने श्री, सुख, सौरभ का ताना-बाना गूँथ दिया। ब्राह्म मुहूर्त्त का एक भावमय चित्र देखिए—

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर काम रूप नभचर,

चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !

पन्तजी का मूर्त्तिमान निरीक्षण (observation) भी देखिये कितना विशद और सबल है—

निराकार तम मानों सहसा
ज्योति पुञ्ज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम, रूप नाना !

आगे चेतक पर लिखी हुई कविता भी भावपूर्ण है—'नीरव व्योम विश्व नीरव' में बालकवि का ओज प्रकट हुआ है—शिशुओं के क्रोध के समान वह भी सुन्दर ही है। अस्तु !

वीणा की कवितायें अधिकांश में भाव-प्रधान हैं—किन्तु प्रायः सभी में भावों का बड़ा संयत दबा हुआ प्रस्फुटन हुआ है। कल्पना अभी पंख फड़फड़ा रही है—पर कहीं-कहीं तो उसकी उड़ान बड़ी ऊँची है। सूक्ष्मदर्शिता कवि के अधिकतर चित्रणों में मिलेगी—फिर भी इन कविताओं में शैशवोचित चापल्य ही है—स्नायुमय शक्ति और विराट सौन्दर्य, 'अन्धकार' आदि एक आध कृति को छोड़ अन्यत्र कम मिलेंगे।

वीणा की इन शिशु-कृतियों में हमें पन्तजी की रञ्जन कला का आभासमात्र ही मिलता है। सूक्ष्मदर्शिता होते हुए भी अभी सुबोध कवि को रंग भरने की विद्या पूर्ण प्राप्त नहीं हुई, इसी कारण इन कविताओं में धूमिल और श्वेतछाया ही है—उनका रंग धानी रेशमी ही है। फिर भी स्थान-स्थान पर उसमें रंग और प्रकाश का यथेष्ट समावेश है—

दिवा नाथ का विपुल विमल जब
मेरी आखों से, तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि-जाल बन एक कराल !

भाषा भी वीणा की तुतली है—कवि की प्रौढ़ वाणी की अपेक्षा। उसमें यत्र-तत्र कुछ दुर्बल प्रयोग कानों को कष्ट देते हैं—यथा—

भ्रमर अधखिली काली में—

× × ×

स्वीकारो पर्ण-पुष्प—

× × ×

सकल स्वार्थ की निज बलि दे।

× × ×

दबा मेरा दुर्बल—दिल—प्राण !

× × ×

परन्तु फिर भी इस तुतलेपन में भी उस भावी शक्ति का आभास है जिसके कारण पन्त की भाषा हिन्दी के काव्यमय रूप का आदर्श बन सकी है। इन 'बिना व्याकरण बिना विचार' के छन्दों में भी मूर्तिमत्ता और लाक्षणिकता का यथेष्ट पुट है—

मारुत ने जिसकी अलकों में

चञ्चल चुम्बन उलझाया।

× × ×

अन्धकार का आलसित अञ्चल,

अब द्रुत ओढ़ेगा संसार।

× × ×

जहाँ स्वप्न सजते शृङ्गार। (मुसकान)

कहीं तो भाषा की संकेतात्मकता (Suggestiveness) बड़ी ही विशद और प्रौढ़ हुई है—

सौरभ-वेणी खोल रहा था

तेरी महिमा की पवमान !

उस समय में, जब भाषा या तो प्राचीन रीति की उलझनों में जकड़ी हुई थी या फिर खड़ी बोली की इतिवृत्त-प्रवृत्ति और अपनी स्वाभाविक खड़खड़ाहट के कारण काव्य के उपयुक्त नहीं

प्रतीत होती थी—पन्तजी ने इस प्रकार भाषा-निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। निर्माता-कवियों में ही यह शक्ति सम्भव है।

अन्त में, वीणा हमारे इस कलाकार की प्रथम कृति होने के सर्वथा उपयुक्त है। अपने स्वप्न-नीड़ से बाहर आकर जो इस 'विहग-वन के राजकुमार ने' अस्फुट गान गाये हैं, वे सुन्दर हैं, भोले हैं, कोमल हैं।

है स्वप्न नीड़ मेरा माँ जग उपवन में
मैं खग-सा फिरता नीरव-भाव गगन में
उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में
चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में कन में

परन्तु इनमें भावी प्रौढ़ता की आशा है, विश्वास है।

मैं इतनों की दुख सामग्री
हूँगा जगती के मग में
शोक-मुक्त होंगे दुत इतने
ओक मुझे कर अवलोकन!

'ग्रन्थि'

ग्रन्थि कवि की प्रारम्भिक कृतियों में से है—जब तारुण्य का बाल रवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय उस मधु-वेला में भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रन्थि डाल दी जिसे वह कदाचित अभी तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना कि ग्रन्थि पन्तजी के अपने अनुभव पर आधृत है, उसमें उन्होंने अपनी प्रणय-कहानी लिखी है। वास्तव में इस लेख का लेखक कवि के आन्तरिक जीवन के इतने निकट नहीं है कि इस विषय में कुछ निश्चय-पूर्वक कह सके—और न किसी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा श्लाघ्य ही है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी उच्छ्वास, आँसू और ग्रन्थि ये तीन कविताएँ किसी विशेष प्रेरणा-भार से दबकर लिखी हुई हैं और इनमें आत्म-जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य हैं।

ग्रन्थि कवि के अपने 'विज्ञापन' के अनुसार सन् १६२० के जनवरी मास में लिखी गई थी। उच्छ्वास की तरह इसका कथा-भाग भी बहुत थोड़ा है, पर शायद स्पष्ट उससे अधिक। कहानी केवल इतनी सी है कि एक बार संध्या के समय नायक की तरणी किसी ताल में डूब गई और उस सान्ध्य-निःस्वन से गहन जल-गर्भ में कुछ समय के लिये उसका विश्व तन्मय हो गया। किन्तु थोड़ी देर बाद उसकी आँखें खुलती हैं और संज्ञा प्राप्त करने पर वह देखता है कि एक सुकोमल बालिका उसका शीश अपनी जंघा पर रखे हुये बड़ी व्यग्र दृष्टि से उसकी ओर देख रही है। नायक को उसकी मूकता की आड़ में प्रणय का प्रथम परिचय पढ़ते देर नहीं लगती और वह भी उसके प्रेम-पाश में बन्दी होकर पहिली बार अपने शून्य एवं वंचित जीवन में अपनाव का अनुभव करता है। यह प्रणय-कहानी चलती है और नायक नायिका दोनों एक दूसरे के वियोग में व्याकुल समय व्यतीत करते हैं, परन्तु अन्त में समाज इसको स्वीकार नहीं करता और नायका का ग्रन्थि-बन्धन किसी दूसरे व्यक्ति के साथ हो जाता है। बस, कहानी यहीं प्राण तोड़ देती है, और नायक जिसे जन्म से ही कभी अपनाव नसीब नहीं हुआ था, वेदना की निरापद शरण में चला जाता है। ग्रन्थि में कथा तो क्या, कथा की एक पृष्ठभूमि मात्र है।

इस प्रकार ग्रन्थि विप्रलंभ शृङ्गार की कविता है, युवक-हृदय का आग्रह भी यही होता है। इसकी कथा प्रथम पुरुष में आत्म-कथा के रूप में चलती है—नायक स्वयं अपनी बीती सुनाता है। गति की दृष्टि से कथा में एक विषमता है। वैसे तो यह सर्वत्र ही बड़ी मन्दगति से चित्रित और पुष्पित दृश्यों तथा अनेक चिन्तनों में होती हुई चलती है, परन्तु एकाध स्थान पर जहाँ कवि को केवल इतिवृत्त मात्र ही कथन करना है, उसकी गति में लपक-सी आ जाती है। प्रारम्भ में कवि अपनी कल्पना

का आह्वान करता है और विश्व के गम्भीर गीत को भुलाकर प्रणय की सजल-सुधि में मग्न हो जाना चाहता है। फिर कथा आरम्भ होती है और हमको प्रथम परिचय का भाव-प्रवण चित्र देखने को मिलता है—

शीश रख मेरा सुकोमल जांघ पर
शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल,
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से।

अन्तिम पंक्ति में कवि ने भावों के एक वृहत् प्रवाह को भर दिया है—साथ ही बाला की चेष्टा का बिम्ब भी ज्यों का त्यों अङ्कित है। नायक थोड़ी देर उस भाव-चित्रित सौन्दर्य को देखता रहता है, फिर धीरे से उसकी आँखें चार होती हैं। कवि की भावुकता उसका वर्णन बड़े सजीव शब्दों में करती है—

एक पल; मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय सम्बन्ध था।

पाठक देखें कि सूक्ष्म भावुकता के साथ उपरोक्त पद्य में कल्पना का संयोग भी बड़ा मधुर हुआ है। इसके आगे क्रमशः नायक की मिन्नतें हैं—

प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे

फिर वह शीघ्र ही आश्वस्त हो जाता है और कहता है—

कौन मादक कर मुझे है छू रहा,
प्रिय तुम्हारी मूकता की आड़ में!

यहीं पन्तजी ने प्रेम पर, एक बड़ी भावपूर्ण उक्ति कही है, जिससे उनकी तद्विषयक मर्मज्ञता का परिचय मिलता है—

यह अनोखी रीति है कथा प्रेम की,
जो अपाङ्गों से अधिक है देखता
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।

'वारि पीकर पूछता है घर सदा' कथन के द्वारा कवि ने चिर-परिचित उक्ति को एक नया रूप तो दिया ही है, परन्तु भाव की व्यञ्जना भी बड़ी सुन्दर की है। इसके उपरान्त नायिका बड़े साहस से कुछ कहने का प्रयत्न करती है परन्तु 'नाथ' से आगे नहीं बढ़ती—(यद्यपि इस शब्द में ही वह सारे भावों को ताबीज की तरह भर देती है)—और लज्जा की लाली उसके मुख को चुप कर देती है। कवि यहाँ सुन्दर कल्पना करता है जो संस्कृत कवियों या प्राचीन शृङ्गारियों की याद दिलाती है। वह कहता है कि नायिका क्यों चुप हो गई ? इसलिये कि—

देख रति ने मोतियों की लूट यह,
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर-विद्रुम द्वार अपने कोष के।

आगे स्पृहा और संकोच के सुन्दर समर का वर्णन है जो अधरों को कम्पित करता हुआ एक दुर्बल लालिमा में बह निकला था।

फिर दृश्य बदल जाता है और कवि हमें रंगरेलियों के चंचल वातावरण में ले जाता है, जहाँ—

बैठ वातायन निकट उत्सुक नयन
देखती थी प्रियतमा उद्यान को,
पूछता था कुशल फूलों से जहाँ
मधुर स्वर में मधुप स्वर से फूल का ?

यह वातावरण हमें भावी हास-परिहास के लिए तैयार करता है और शीघ्र ही—

मन्द-मुसकातीं, चपल भ्रू-वीचि में
हृदय को प्रतिपल डुबातीं, आज भी
संगिनी सखियाँ वहाँ आईं सहज
हास औ परिहास-निरता, दोलिता।

बस फिर विनोद की सरिता उमड़ती है और सखियाँ तानों की बौछार करने लगती हैं। यह शृङ्गारिक हास्य बड़ा उत्तम है।

इसमें हँसी नहीं एक मधुर गुदगुदी है जो हृदय में रति की भावनाएँ जागृत करती है। इस प्रेम-परिहास में एक मादकता है, एक नशा है, जो प्रेमी रसिकों को पागल बना देता है। प्रणय-आछन्न हृदय में इस प्रकार का भोला हास-विलास किस प्रकार एक प्रफुल्लता ला देता है, और यह अनुभव प्रेमियों को कितना मीठा लगता है इसका पन्तजी को विशद ज्ञान है। इसके अनेक उदाहरण ग्रन्थि में मिलेंगे। उनमें कवि ने प्राकृतिक अप्रस्तुत सामग्री के चयन में अपूर्व कौशल दिखाया है। एक मनचली सखी प्रेम की व्याख्या करती है, उसकी चपलता तो देखिए—कितनी शोख है—

मन्द चलकर रुक, अचानक अधखुले
चपल-पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी,
तरुणता का गर्व क्या उसने किया।

यह रसिकता आगे और बढ़ जाती है और सखि कहती है—

हास-सरिता में सरोजों से खिले
गाल के गहरे गर्तों को मधुप-से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चम्पाकली ने क्या किया?

उक्त पद सभी, उत्कृष्ट और परिष्कृत शृङ्गार-रसज्ञता के उदाहरण हैं—उनकी ऐन्द्रियता में भी सुरुचि है।

इसके उपरान्त नायक की अपनी कथा है जिसमें वह बत-

जाता है कि किस प्रकार प्रारम्भ से ही उसका जीवन शून्य और प्रेम-वञ्चित रहा है—उसमें मातृ-निधन, फिर पिता का वियोग, और अकिञ्चनता सभी का प्रकोप है। यह निरवलम्बता बालिका को पाकर कुछ कम हुई थी परन्तु—

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह !

और अन्त में—

प्रात-सा जो हृदय जीवन का नवः
था खुला पहिले सुनहले स्पर्श से,
साँझ के मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करुण-उपसंहार, हा, उसका मिला !

अर्थात्—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बंधन हो गया, वह नव-कुसुम
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया !

कितना गहन विषाद है। उक्त कथन में उक्ति का चमत्कार नहीं स्पष्ट भाव व्यञ्जना की पुकार है। असूया भाव कुछ दबा हुआ होने पर भी उभर आया है, उसमें विवशता ने गहराई लादी है। यह कसक आगे चलकर और तीव्र हो जाती है और निराशा-विवश प्रेमी चीख उठता है—

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके चूमो तरङ्गों के अधर,
उडुगनों गाओ पवन वीणा बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है

× × × ×

प्रेमी देखता है कि शैवलिनी सिन्धु से मिलने जा रही है, जाय; चन्द्रिका तरङ्गों के अधर चूम रही है, चूमे, उसका क्या ?

अखिल गगन् का आलिंगन करता है, तो करने दो। उसका हृदय तो सभी प्रकार कंगाल है—उसके लिये तो निर्जन के सिवाय और कहां ठिकाना नहीं। शुद्ध भाव की व्यञ्जना की दृष्टि से ग्रन्थि की ये पंक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—उनमें भाव की स्वाभाविकता है, चिन्तन का भार या विचार की उलझन नहीं है। तदुपरान्त निराश प्रणय का विस्फोट है—परन्तु 'इस पागलपन में भी एक सिलसिला है।' वास्तव में यह सिलसिला भावों के प्रकृत-प्रवाह में बाधक होता है, फिर भी ग्रन्थि का यह भाग काव्य की दृष्टि से काफी महत्व रखता है। इसमें दर्शन, सौन्दर्य्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु, वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुन्दर उद्गार हैं, जो प्राय: स्वतन्त्र से प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उनका सौन्दर्य्य स्वतन्त्र-रूप में ही अधिक प्रस्फुटित होता है। इस प्रसंग में कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी भावुकता और मूर्ति-विधायिनी कल्पना का रुचिर संयोग है। कुछ उदाहरण लीजिये—

प्रेम से कवि कहता है—

और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं;

"हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं"—प्रेम की कितनी सुन्दर व्याख्या है ! भवितव्यता पर कवि का उद्गार बड़ा गंभीर साथ ही व्यापक है—वह कहता है—

हा अभय भवितव्यते ! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ !

× × × ×

तू सरल कोमल कुसुम दल में कहाँ
है छिपा रहती कठिन कण्टक बनी ?

× × × ×

स्वर्ण-मृग तेरा पिशाचिनि ! हर चुका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !

उन्नीस वर्ष की नादान अवस्था में पन्तजी के अनुभव की यह व्यापकता चकित कर देती है—आगे कथा का उपसंहार है। नायक को अनुभव हो जाता है कि

प्रेम-वर्जित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में।

और वह संसार के विशाल महलों की रिक्तता का अनुभव करता हुआ 'वेदना के मनोरम विपिन' में जाकर सब भाँति सुख सम्पन्न हो जाता है—इस प्रकार 'पतन के नीले अधर पर भाग्य का निठुर उपहास' दिखलाने के उपरान्त कवि विदा लेता है।

ग्रन्थि प्रेम-कहानी है, उसका शृङ्गार विप्रलम्भ है, आरम्भ में उसमें पूर्व राग का भी अच्छा विकास है। एक प्रकार से यह पूर्व राग कुछ अंश में संयोग की सीमा तक पहुँच गया है। इस स्थायी भाव के अतिरिक्त, शृङ्गार के प्रमुख सञ्चारियों एवं सात्विकों की भी ग्रन्थि में न केवल व्यञ्जना है वरन् विवेचना भी है। यह विवेचना आचार्य-कृत विवेचना नहीं, कवि की विवेचना है, अतः स्वभावतः ही भावुकता में लिपटी हुई है। जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है। वास्तव में ग्रन्थि गीति काव्य ही है, उसे खण्ड काव्य कहना उसके समझने में बाधक होगा। हाँ, कहीं-कहीं चिन्तन का अत्यधिक समावेश अवश्य उसकी गीतिमयता और काव्य दोनों में व्यवधान डालता है।

अब एक दृष्टिपात ग्रन्थि के कला-भाग पर भी कर लिया जाए। तरुण कवि की कृति होने के कारण, वह प्रकृति से ही

अन्य उत्तर रचनाओं की अपेक्षा, अधिक अलंकृत है। जिन दिनों कवि ने ग्रन्थि की रचना की थी, उन दिनों उसका संस्कृत-काव्य का अध्ययन भी अंशतः इसके लिए उत्तरदायी है। ग्रन्थि में हमें अलङ्कारों की एक चित्रित छटा मिलती है। सीधे साधे किसी बात को प्रभावशाली शब्दों में कहने की कला ग्रन्थि में नहीं है, वहाँ तो साधारण से साधारण बात वक्रता या अलङ्कारों की सहायता से व्यक्त की गई है।

अब पहिले थोड़ा-सा विवेचन ग्रन्थि की अलङ्करण-सामग्री का करना उपयुक्त होगा। कवि ने वास्तव में अपने परिचित प्राकृतिक विधानों से अप्रस्तुत ग्रहण किया है, अतः वह सूक्ष्म को स्थूल रूप देने में बड़ा सफल हुआ है और उसके अलङ्कार प्रायः चित्रमय हो गये हैं। एक उपमा लीजिये—

सान्ध्य-निःस्वन-से गहन-जल-गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।

गहन जलगर्भ की रूप-रेखा में सान्ध्य-निस्वन की उपमा ने रङ्ग भर दिया है और उसकी गहनता मुखर हो उठी है—साथ ही यह चित्र वातावरण में भी 'फिट' हुआ है—

...........मैं झट चौंक कर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी!

उक्त उपमा में तरुणी के चौंकने का कितना कोमल चित्र है।

कुछ उपमाएँ ऐसी हैं जो चित्रमयता लाने के लिये नहीं भाव व्यञ्जना में सहायक होने के लिए प्रयुक्त हुई हैं—

देश के इतिहास के से बहिन तुम,
अश्रु कोरे गिन रही हो!..........

× × ×

..........कृपण से दान-सी
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली!

भाग्यहीन नायक को दैव से प्रेमिका की प्राप्ति ठीक ऐसी ही थी जैसी कृपण से दान-प्राप्ति !

इसके अतिरिक्त ग्रन्थि में कुछ ऐसी उपमाएँ भी मिलेंगी जो प्रसङ्गानुकूल होने के कारण भाव-व्यञ्जना में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देती हैं—

अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से ।

वसन्त ऋतु में पृथ्वी का वैभव इस प्रकार बढ़ रहा था जैसे उसके दिवस—कितनी उपयुक्त उपमा है—

··········उस दृश्य की
चारु-चर्चा ने हमारा प्रिय-साथ
हर लिया उस हंसिनी के हृदय-सा

कहीं-कहीं उपमाओं की झड़ी लग जाती है जिससे व्यञ्जना अधिक तीव्र हो जाती है—

जब अचानक अनिल की छवि में पला
एक जल-कण जलद-शिशु-सा पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा
चाह-सा, सुधि-सा, स-गुन-सा, स्वप्न-सा

अस्तु उपमाओं के ऐसे श्रेष्ठ उदाहरण ग्रन्थि में अनेक हैं। परन्तु साथ ही कहीं उपमाओं की अनावश्यक रूप से भर-मार भी हुई है जो भाव की क्षीणता और शब्दाडम्बर की द्योतक है।

पवन से उभरे गगनमय पङ्ख-से
परस-सुख के उस विशाल-विलास में
शरद घन-सा लीन हो, गिर पलक-सा,
भूल जावें··········

उपमाओं के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य चमत्कार-प्रधान अलंकार भी ग्रन्थि में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। जैसा कि मैं पूर्व

ही निवेदन कर चुका हूँ ग्रन्थि कवि की प्रारम्भिक कृति है, अतः स्वभाव से ही उसमें चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-सौन्दर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट है। इसके प्रमाण में कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा,
एक निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध करदी दृष्टि मेरी दीप-सी।

उपरोक्त पद में सहोक्ति, यथासंख्य, श्लेष, उपमा आदि का अनूठा संकर है; साथ ही प्रत्येक अलङ्कार एक पृथक भाव का द्योतक है; उसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ, और अन्तिम उपमा 'दीप-सी' में तो कवि ने कमाल कर दिया है। एक और पद लीजिए। उसमें विषम, विरोधाभास, लोकोक्ति का सुन्दर समावेश है।

जो अपाङ्गों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा;
वारि पीकर पूछता है घर सदा!

× × × ×

शब्दालङ्कारों की छटा भी ग्रन्थि में मनोहर है। उसकी अनुप्रासमयी भाषा में आश्चर्य माधुर्य और सङ्गीत है। कवि का अनुप्रास स्थूल शब्दजाल पर आश्रित नहीं है, उसमें एक सूक्ष्म और तरल सङ्गीत है। उदाहरणार्थ—

लोल लहरों से कलापति पर लिखी

× × × ×

ललित लोल उमंग-सी लावण्य की।

× × × ×

रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे।

इसके अतिरिक्त श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, यमक आदि भी ग्रन्थि की भाषा की वक्रता को बढ़ाने में सहायक होते हैं—

तरणि के ही संग तरल तरंग-से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

× × × ×

.... पूर्व को,
पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था!

यह तो रही प्राच्य अलङ्कारों की बात; पन्तजी ने पाश्चात्य नवीन अलङ्कारों की सहायता लेकर भी ग्रन्थि की रूप-रेखा को अलंकृत किया है। उसमें मानवी-करण, विशेषण-विपर्यय, ध्वनि-चित्रण आदि विदेशी अलङ्कारों की भी विचित्रता है।

दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।

उपरोक्त उद्धरण में दीनता की प्रधानता दिखाने के लिए कवि ने उसे मूर्तिमन्त कर दिया है। दीन के पात्र में नहीं दीनता के पात्र में, कहने से दीनता की महत्ता व्यक्त होती है। साथ ही पात्र विकम्पित नहीं, दीन ही विकम्पित है। अतः यहाँ मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय का दुहरा प्रयोग है जो पात्र के श्लेष से और भी गुरुतर हो गया है। ध्वनि-चित्रण की मधुरता भी ग्रंथि की एक विशेषता है—

विरह अहह कराहते इस शब्द से

में ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई विरही प्रत्यक्ष ही कराह रहा हो। उपरोक्त अलंकार ग्रन्थि में राशि राशि मिलेंगे। एकाध स्थान पर कवि ने अंगरेजी ढंग पर मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है जिससे उसकी सूझ का पता चलता है—निम्न पद में रेखाङ्कित (Underline) करने का कितना अच्छा चमत्कारिक प्रयोग है—

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित-सी शशि के वदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी था कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

इन अलंकृत प्रयोगों के अतिरिक्त ग्रन्थि में ऐसी बहुत सी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो किसी अलंकारिक चमत्कार पर आश्रित नहीं है, वरन् उनमें एक भावुकता-समन्वित वक्रता, एक ध्वनि मिलती है जो तुरन्त ही हृदय को स्पर्श करती है। ग्रन्थि की ये उक्तियाँ मेरे विचार से उसके काव्य-सौन्दर्य्य का एक अङ्ग है—दो एक नमूने देखिए—

अन्त्य-निःस्वन-से गहन जल-गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।

विश्व के तन्मय होने में एक गम्भीर भाव है जो जल में डूबने की अवस्था का भी चित्र उपस्थित करता है। हमारा विश्व कहने से उसमें करुणा की पुकार और अधिक तीव्र हो गई है।

साँझ को उड़ते शरद के जलद से
सीख सहृदयता, उसीके साथ थे (नयन)
लीन भी हैं हो चुके आकाश में
विहग-बाला की व्यथा को खोजने—

अन्तिम पंक्ति में कवि ने दूर अकूल आकाश में दृष्टि के लीन होने की बात अत्यन्त भावुकता के साथ व्यञ्जित की है।

..............................में पवन के
गात अञ्चल में मधुर थी भर रही।

× × × ×

पूछती है जो सितारों से सतत
प्रिय तुम्हारी नींद किसने छीन ली।

ग्रन्थि के कलापक्ष पर विचारते हुए अब अन्त में उसकी भाषा की चित्रण-शक्ति एवं चित्रमयता पर एक दृष्टिपात और कर लेना चाहिए। ग्रन्थि एक रमणीक प्रेम-काव्य है, उसकी धारा जिन दृश्यों में होकर बहती है वे सुरभित हैं, मादक हैं। उनमें प्रकृति का प्रभूत सौन्दर्य्य-सञ्चय है जो प्रेम के भावों की उपयुक्त पृष्ठभूमि का कार्य करता है। संध्या की एक झलक देखिए—

खींचकर निज कनक-किरणों को तपन
चरम-गिरि को खोजता था कृपण-सा,
अरुण-आभा में रँगा था वह पतन,
रज कणों-सी वासनाओं से विपुल।

कवि किस प्रकार प्रकृति में रमकर उसका अंकन करता है इसका एक उदाहरण लीजिए:—

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।

प्राकृतिक दृश्यों के साथ ही ग्रंथि में चेष्टाओं के भी सुन्दर चित्र हैं—मार्जार-बाला की उछल-कूद तो देखिए, शब्दों में कितनी चञ्चलता है—

तूल-सी मार्जार-बाला सामने
फिरती थी, निज बाल-क्रीड़ा में कभी
उछलती थी फिर दुबक कर ताकती
घूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के।

प्रेम की तन्मयता का एक सजीव अंकन और देख कर इस प्रसंग को समाप्त किया जाय—

...........प्रति शब्द से
चौंक कर उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा, प्यार क्या उसने किया।

सर्वांशेन दृष्टि-पात करते हुए, ग्रंथि, युवक कवि की सफल कृति है। काव्य-प्रिय युवक प्रेमी इस ग्रंथ-रत्न का सदैव आदर करेंगे।

पल्लव

वीणा के उपरान्त पल्लव में कवि की प्रतिभा पल्लवित हुई। ग्रंथि और वीणा का समय तो लगभग एक ही है। पल्लव में कवि का यौवन पूर्णरूप से फूट निकला है। वह एक प्रौढ़ और मननशील कलाकार के रूप में हमारे सम्मुख आता है। पल्लव की भूमिका इसकी द्योतक है।

पल्लव में यौवन के गीत हैं—अतः स्वभावतः ही उसमें अनुभूति और भावोन्माद का संयम नहीं हो सका। इसी कारण पल्लव में पन्तजी की और कृतियों की अपेक्षा उद्गीतियाँ अधिक हैं और कला-रसिकों को यह कृति ही कदाचित सर्वोत्कृष्ट जँचती है। पल्लव के लिये कवि स्वयं विनम्रभाव से कहता है कि—

न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस-राग पराग,
एक अस्फुट अस्पष्ट अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान।
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग
वन्य-विहगों के गान।

परन्तु यह उसकी सौम्यता ही है; वास्तव में बात तो यह है कि—

हृदय के प्रणय-कुञ्ज में लीन
मूक-कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन-मन-बन्धन-हीन
मधुरता से अपनी अनजान।

खिल उठी रोओं-सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल।

पल्लव में हृदय का प्राधान्य है और वह शिशुओं का शुचि-अनुराग न होकर युवक का उन्मुक्त प्रणय-गान ही है।

पल्लव की प्रथम दो कविताएँ 'उच्छ्वास' और 'आँसू' पन्तजी की प्रेम-विषयक रचनाएँ हैं। बात सिर्फ यह है कि एक अस्फुट-यौवना किशोरी पर कवि मुग्ध हुआ। स्नेह पल्लवित ही हुआ था कि सन्देह द्वारा राग विराग में परिणत हो गया। 'उच्छ्वास' में यही कथानक गर्भित है। इससे पहले कवि 'उच्छ्वास' से कहता है कि तू बाल-बादल-सा उठ कर समस्त जग को आच्छादित करले और—

बरस धरा में, बरस सरित, गिरि सर सागर में!
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में॥

आगे उच्छ्वास की बालिका का बड़ा भोला और सुन्दर वर्णन है— सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन।
× × ×
रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित!

फिर भी कवि का आकर्षण देखिए कितना मधुर है—

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर-मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।
× × ×

में मन्द-हास-सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया।

उच्छ्वास का दृश्य पर्वतीय भूमि में है। इसका वर्णन चित्रित और रङ्गीन है। दूसरे भाग में स्नेह और सन्देह पर बिखरे गीत हैं जो भाव की दृष्टि से काफ़ी प्रौढ़ हैं, उनमें गंभीर विचारों का विकास मिलता है—स्नेह के लिए आप कहते हैं—

यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप-विलास
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकाश,
जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश;
जन्म दिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास!

सन्देह पर कवि की भावनाएँ कितनी सुलभी और मूर्तिमती हैं—

मर्म पीड़ा के हास!
रोग का है उपचार,
पाप का भी परिहार,
है अदेह सन्देह, नहीं है इसका कुछ संस्कार!
हृदय की है यह दुर्बल हार!!
खींचलो इसको, कहीं क्या छोर है?
द्रौपदी का यह दुरन्त दुकूल है!
फैलता है हृदय में नभ-बेलि-सा,
खोजलो इसका कहीं क्या मूल है?

अन्तिम दो पंक्तियों में कवि ने अत्यन्त प्रौढ़ मनन-शक्ति का परिचय दिया है—

उच्छ्वास एक प्रौढ़ कृति है—हाँ इसमें तारतम्य की कमी है जो बहुत खटकती है। 'आँसू' कविता में कवि का 'गीला गान' है। वास्तव में जिन बातों को संसार ने पीड़ामय

और दुखद समझ रखा है—उनमें कवि को एक विशेष माधुर्य का दर्शन होता है, इसी से तो वह कहता है—

कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।

विरह से पीड़ित कवि एक साथ चीख पड़ता है—

हाय किस के उर में
उतारूँ अपने उर का भार

आगे जब उसका हृदयाकाश कुहरे से घिर कर अन्धकारमय हो जाता है तो प्रेयसी की सुधि एक साथ आकर उसको विचलित कर देती है—देखिए इस भावना का कितना चित्रमय अङ्कन हुआ है—

कभी कुहरे-सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर।
तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगुनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।

अब प्रकृति की प्रत्येक सुन्दर वस्तु में उसे उस प्रियतमा का आभास मिलता है—यहाँ 'स्मरण' भाव के बड़े ही विशद चित्रण हैं। दूसरे भाग में अत्यन्त करुण प्रणयोद्गार हैं—उनमें एक अनिर्वचनीय टीस है—एक विवशता का संकेत है—कवि कहता है—

कभी तो अब तक पावन-प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,

हुई उसको ही सादर आज
हाय, क्या गंगाजल की धार।

यह करुण-भावना बढ़ते-बढ़ते संसार को ही करुणाप्लावित एवं प्रेम-दग्ध देखने लगती है—

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु-कन।

'आँसू' की नायिका के विषय में तो अन्यत्र लिखा ही जा चुका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपरोक्त दोनों कविताएँ अनुभूत विषय पर लिखी होने के कारण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं।

इन प्रेम-गीतों के अतिरिक्त पल्लव की अन्य कविताओं में कल्पना और भाव का प्राधान्य है—वैसे तो प्रत्येक कविता में ही दोनों का सम्मिश्रण आवश्यक होता है परन्तु फिर भी हम कुछ कविताओं को एकान्त कल्पना-प्रधान और कुछ को भाव-प्रधान कह सकते हैं। तीसरी श्रेणी की कवितायें वे हैं जिनमें उपर्युक्त गुणों का उचित सामञ्जस्य हुआ है और इस कारण वे बहुत ही विशद हो गई हैं। कवि की विचार-शक्ति भी स्थान-स्थान पर उनमें ठोस गाम्भीर्य का पुट लगाती रही है। इन तीनों के उचित संयोग ने मिल कर परिवर्तन को एक प्रथक् स्थान दे दिया है। परिवर्तन का स्थान पन्तजी की समस्त काव्य-सृष्टि में प्रथक् ही है।

कल्पना-प्रधान रचनाओं में हम वीचि-विलास, विश्व-वेणु, निर्झरगान, निर्झरी, नक्षत्र, स्याही की बूँद, आदि की गणना कर सकते हैं। इन रचनाओं में कल्पना की सहायता से सुन्दर और आकर्षक चित्र अवश्य खींचे गये हैं परन्तु उनमें हृदय को रसाने वाली भावुकता का संयोग कम है। 'स्याही की बूँद' का चित्र देखिए कितना सच्चा उतरा है—

अर्ध-निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा न विमूर्छित-सा

अर्ध-जीवित-सा और मृत-सा,

परन्तु फिर भी 'छायावाद की कविता का जानी दुश्मन' उसे कल्पना का अपव्यय कह सकता है। इसी कारण 'नक्षत्र' में पन्तजी की कल्पना गृद्धराज के पंख लेकर उड़ी है—परन्तु भावुकता का साथ न हो सकने के कारण वह कोरी उड़ान ही हो गई है—

हाँ 'वीचि-विलास' में कोमल कल्पना है और इसी कारण हृदय-वृत्ति उनमें अधिक रमती है—

छुई-मुई-सी तुम पश्चात
छूकर अपना ही मृदुगात
मुरझा जाती हो अज्ञात!

स्वर्ण-स्वप्न सा कर अभिसार,
जल के पलकों में सुकुमार।
फूट आपही आप अजान,
मधुर वेणु की सी झंकार॥

'निर्झर-गान' में दार्शनिक गांभीर्य है।

पन्तजी की भाव-प्रधान कविताएँ हैं—मोह, विनय, याचना, विसर्जन, मधुकरी, मुस्कान, स्मृति, सोने का गान। इन में मोह, विनय, याचना, स्मृति में वीणा की स्मृतियाँ हैं—ये भी प्रायः उस शैली में लिखी गई हैं। हाँ, इनमें भाव अधिक सुलझे हुए हैं—जसे मुस्कान में। विसर्जन और मुसकान शुद्ध गीत-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनमें एक भाव, प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है, कहीं भी अनावश्यक गांभीर्य या कल्पना की उड़ान भाव के उन्मुक्त स्रोत में बाधक नहीं होती।

तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जिनमें कल्पना और भावों का उचित सम्मिश्रण है। ये कवितायें ही पल्लव की प्राण हैं। मैं तो इन्हें पन्तजी की समस्त काव्य-साधना का पुरस्कार कहूँगा। ये हैं—मौन निमन्त्रण, बालापन, छाया, बादल, अनङ्ग

स्वप्न आदि। इनमें पन्तजी की उद्दीप्त भावुकता उनकी प्रखर कल्पना के साथ हाथ में हाथ डाले चली है। साथ ही कोरी भावुकता ही नहीं उनमें एक दार्शनिक अन्तर्प्रवाह भी है जो उन्हें बहुत ही सशक्त (Powerful) बना देता है। मौन-निमन्त्रण का तो प्रत्येक पद शैली के स्काईलार्क के प्रत्येक स्टैन्ज़ा की तरह कटा छँटा (diamond-cut) है। उसके सभी चित्र अभिराम हैं—

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

'बालापन' कविता भी पल्लव की मुकुट मणि है। उसमें एक अबोध भावुकता का प्रवाह उमड़ रहा है। उसे पढ़ते ही अपने वृद्ध प्रपितामह से किसी कार्य के लिये उलझती हुई एक नव-यौवना का चंचल चित्र सामने नाचने लगता है—

बालापन के चित्र रंगीन हैं और उसमें एक आवेश (Passion) है जो हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालता है—

इस अभिमानी अञ्चल में फिर
अङ्कित करदो, विधि! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर,
करुण! लगा दो मेरे अङ्क!

अनंग, बादल, छाया, स्वप्न में कवि ने एक ओर तो अपनी भाव-प्रेरित कल्पना द्वारा बड़े विशद और विराट चित्र खींचे हैं, दूसरी ओर कल्पना-पुष्ट भावुकता की सहायता से उन चित्रों में मानवता का रंग भर दिया है। 'अनंग' का क्षेत्र समस्त सृष्टि और काल तक व्यापक है। उसके चित्र चल-चित्रों के से हैं, उसके विशेषण बड़े पूर्ण और सबल हैं। देखिए—

आदि-काल में बाल-प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हत-ज्ञान
शस्य शून्य वसुधा का अञ्चल,
निश्चल जलनिधि, रवि-शशि म्लान;
प्रथम-हास-से, प्रथम-अश्रु-से,
प्रथम-पुलक-से हे छविमान!
स्मृति-से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व-स्वप्न-से खिले अजान।

वसन्त—प्रथम-कल्पना कवि के मन में,
प्रथम-प्रकम्पन उडुगन में,
प्रथम-प्रात जग के आँगन में,
प्रथम-वसन्त-विभा वन में;
प्रथम-वीचि वारिधि-चितवन में,
प्रथम-तड़ित-चुम्बन घन में,
प्रथम-गान तव शून्य-गगन में,
फूटा नव-यौवन तन में।

भाषा के प्रवाह का तो कहना ही क्या? यही बात अधिकांश में 'बादल' में पाई जाती है। 'स्वप्न' कविता में कवि ने समस्त जगत के रहस्यों को स्वप्न मान कर उन पर दृष्टिपात किया है। छाया की भावगम्य उपमाएँ अछूती हैं। नारी, शिशु, विश्व-व्याप्ति, जीवन-यान, आदि कविताएँ चिन्तन-प्रधान हैं—उनमें बहुत थोड़े-से में कवि ने सब कुछ कह दिया है। भाषा बड़ी व्यञ्जक और प्रौढ़ हो गई है। शिशु के लिये आप लिखते हैं—

गति से जीवन में लयमान!,
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;
× × ×
स्वप्न-से निद्रित-जाग्रत समान,
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान।
× × ×

स्वीय-स्थिति से ही अज्ञान !
दिव्यता का निज तुम्हें न ज्ञान !!

'जीवन-यान' कविता में कवि जीवन की पहेली को देख कर एक साथ कह उठता है—

अहे विश्व ! ऐ विश्व-व्यथित-मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु-पोत, पात, तृण, रजकण,
अस्थिर—भीरु-वितान,
किधर ?—किस ओर ?—अछोर-अजान
डोलता है यह दुर्बल-यान !

परिवर्तन

अन्त में अब परिवर्तन रह गया। जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है पन्तजी की काव्यशाला में 'परिवर्तन' का स्थान सबसे पृथक है। उन्होंने इतनी बड़ी, इतनी आवेशपूर्ण और ऐसी अनेक-रसमय कविता कभी नहीं लिखी। यह कृति १९२४ की है जो कि कवि के चित्ररेखाकार के शब्दों में, उनके जीवन में एक विशेष समय था। जीवन की वास्तविकता के प्रति, ऐहिक विपत्तियों की ठोकर खाकर, कवि का ध्यान सर्व-प्रथम इसी समय गया था। कल्पना-लोक की विहारिणी कवि-प्रतिभा का मर्त्यलोक की कठोरताओं से परिचय होते ही वह एक साथ उद्दीप्त एवं उद्बुद्ध हो उठी और विश्व में व्याप्त परिवर्तन की मार्मिक अनुभूति से तड़प उठी। कवि-समालोचक शान्ति-प्रिय द्विवेदी के शब्दों में "उसमें परिवर्तनमय विश्व की करुण अभिव्यक्ति इतनी वेदना-शील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के कृपासूत्र में बाँध लेना चाहती है।" वास्तव में परिवर्तन में मानो समस्त विश्व की करुण-अनुभूति मुखर हो उठी हो। शान्तप्रियजी कहते हैं कि इसकी दार्शनिकता पर रवीन्द्र बाबू और विवेकानन्द के दर्शन

का प्रभाव पड़ा है। परिवर्तन में भिन्न-भिन्न वर्णों के चित्र हैं। कहीं शृंगार का अरुण राग है तो कहीं वीभत्स का नीला रंग है। एक ओर यदि 'स्वर्णभृङ्गों' के गन्ध विहार हैं तो दूसरी ओर वासुकि सहस्रफन की शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार है। कवि की भाषा की इतनी प्रबल शक्ति अन्यत्र कम दिखाई देती है। जिस प्रकार मानव-जीवन के सिनेमा-गृह में मनोहर और भयंकर चित्र प्रतिक्षण बदलते रहते हैं ठीक इसी प्रकार परिवर्तन के चित्र, पल में रम्य और पल में भयानक होते रहते हैं। कविवर 'निराला' के शब्दों में "परिवर्तन किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।" फिर भी पन्तजी के इस प्रैगड-भाव महाकाव्य को उनकी प्रतिनिधि कृति कहना उचित न होगा। वास्तव में पन्तजी ने न तो इससे पूर्व ही और न इसके बाद ही कोई इतनी आवेशपूर्ण कविता लिखी है। पन्तजी में आरम्भ से अन्त तक संयम का ही प्रमुत्व रहा है। इतना होने पर भी परिवर्तन पन्त के काव्याकाश में उस दूरवर्ती तारे के सदृश है जो सबसे पृथक रह कर अपनी ज्योति विकीर्ण करता है—(Like a star that dwells apart)।

अन्त में 'पल्लव' में पन्त[illegible] परिपूर्ण यौवन है—वह उनके पूर्ण क्षणों की वाणी है—उसमें विहगवन के इस राजकुमार की उन्मुक्त वन्य गीतियाँ (Wood notes Wild) हैं। वाणी का यह उन्मुक्त-विलास फिर अधिक नहीं दिखाई देगा। फिर तो कवि का चिन्तन उसे संयत बना देता है। यद्यपि युगान्त की भाषा पल्लव की भाषा से अधिक प्रौढ़, मांसल और परिपूर्ण है परन्तु उसमें यह स्वाभाविक प्रस्फुटन कहाँ? इसी कारण पन्तजी के अधिकांश भक्त पल्लव को ही उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं। वास्तव में पल्लव है भी ऐसा ही। उसमें है—

दिवस का इनमें रजत-प्रसार
उषा का स्वर्ण-सुहाग;

निशा का तुहिन अश्रु-शृंगार;
साँझ का निःस्वन राग
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार;
(और सबसे अधिक)—तरुणतम सुन्दरता की आग।

गुञ्जन

पल्लव के उपरान्त पन्तजी के दर्शन गुञ्जन में हुए। गुञ्जन में प्राय: १९२६–३२ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। कुछ कविताएँ काफ़ी पहिली भी हैं। यह कवि के जीवन में आशा का समय था। कठिन रोग से मुक्त होकर कवि की आत्मा इस समय जीवन की आशा से परिदीप्त हो उठी थी। इसी कारण गुञ्जन की कविताओं में जीवन के प्रति एक नवीन हर्षपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह है उन पर दार्शनिक प्रभाव। 'पल्लव' का अल्हड़ कवि अब एक साथ बड़ा संयत और गम्भीर हो गया है। गुञ्जन पन्तजी के अपने शब्दों में उनकी आत्मा का 'उन्मन गुञ्जन है'। कवि का क्षेत्र अब हृदय से हटकर आत्मा तक पहुंच गया है। इसी कारण उसमें आवेश की न्यूनता और चिन्तन एवं मनन का प्राधान्य है। पल्लव के उन्मुक्त गीतों के, विशेष कर, परिवर्तन की ऋजुगीतियों के उपरान्त यह परिवर्तन एक साथ पाठक को अखरता, और इसी कारण रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

गुञ्जन में अधिकतर छोटे-छोटे गीत हैं। कारण भी स्पष्ट ही है। मनन और चिन्तन का निष्कर्ष बहुत अधिक नहीं होता। पहले गीत 'गुञ्जन' में ही आत्मा गूँज उठी है। मधुऋतु के आगमन के साथ ही वन-वन उपवन में नववयस्क अलियों का गुञ्जन छा गया। कवि-प्राण भी जीवन मधु के संचय को आकुल होकर गुञ्जन करने लगे। इस कविता की शब्द-योजना इतनी विशद है कि इसको पढ़ने पर गुञ्जन की ध्वनि सुनाई देने लगती

है। युग-प्रवर्त्तक कवि नववय के अलियों (कवियों) का दिग-न्तव्यापी गुञ्जन सुन कर आह्लाद से भर जाता है। दूसरी कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' बड़ी ऊँची कविता है। इसमें कवि के व्यापक भाव का अनुभव होता है। वह विश्ववेदना में तप कर और जीवन की ज्वाला में जलकर अकलुष और अधिक उज्ज्वल बनना चाहता है जिससे कि अपने तप्त-स्वर्ण से वह जीवन की पूर्णतम मूर्त्ति गढ़कर संसार में अपनापन स्थापित कर सके। यहाँ कवि के भावों में परम प्रौढ़ता का आभास मिलने लगता है। इसके उपरान्त कुछ कवितायें जीवन सम्बन्धी हैं। ये सभी १६३२ की लिखी हुई एक सूत्र में गुम्फित हैं। थोड़ी सी विस्मय-भावना, फिर मनन और ज्ञान का विकास और सुख दुःख का परिज्ञान, अन्त में जीवन के प्रति अविरोध आकर्षण और तज्जन्य शान्ति इन कविताओं में एक क्रम से मिलेंगी। कवि की जिज्ञासा होती है—

मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन-मुग्ध किसके बल !

धीरे-धीरे कवि सोचता है—

क्या यह जीवन ? सागर में
जल-भार मुखर भर देना !
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा
व्रीड़ा से तनिक न लेना—

× × ×

और उसे अनुभव होने लगता है—

सागर-संगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;

फिर कवि इस ज्ञान पर पहुंचता है कि—

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

कितना सुन्दर और साथ ही अक्षरशः सत्य कथन है— कितना चिन्तनपूर्ण ! बस इस निश्चय के उपरान्त वह कह उठता है—

जीवन की लहर लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे नाविक !

क्योंकि—

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरन्तन !
सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

और—

पुलकों से लद जाता तन
मुँद जाते मद से लोचन
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना मुझे इष्ट है साधन !

अन्त में कवि को यह विश्वास हो जाता है कि—

सुन्दर से अति सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर सुन्दर जग-जीवन !

इस प्रकार इन कविताओं में एक दार्शनिक शृङ्खला है जिसको कवि ने अपने चिन्तन की अग्नि में गला कर बड़े ही

सुन्दर ढंग से ढाला है। गूढ़ जीवन-सम्बन्धी विचारों को इतने सुलझे हुए, साथ ही भावमय और कवित्वपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। प्रौढ़ मनन और विस्तृत भाषाधिकार के बिना यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।

कहीं-कहीं तो पन्तजी ने सूखे दर्शन में अपने प्राणों का मधु उँडेल दिया है। जीवन का रहस्य उसमें लय हो जाने से ही मिलता है। इस साधारण दार्शनिक उक्ति को कवि इस प्रकार अङ्कित करता है—

कँप-कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा!
बुदबुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।

'मानव' कविता कवि के इस नवीन दृष्टिकोण को बड़े रम्य चित्रों द्वारा अङ्कित करती है। प्रकृति का कवि अब 'मानवपन' पर मुग्ध हो गया है।

इस गीत-माला के पश्चात् फिर एक दूसरी शृङ्खला प्रणय-गानों की है। सब से पूर्व 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में कवि हमें अपनी प्रेयसी का एक भाव-चित्र देता है—देखिए, किस प्रकार वह विश्व के समस्त सौन्दर्य को उसमें देखता है—

मुकुल-मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर-विलास,
विश्व सुषमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम बाला का शरदाकाश।

आगे कवि यौवन के विकास का मूर्तिमान चित्र उपस्थित करता है—

मृदूर्मिल-सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण-सरोज समान,

मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव-गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा, विस्मय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

'भावी पत्नी के प्रति' पल्लव-सीरीज़ की ही कविता अधिक प्रतीत होती है—या यों कहना चाहिये कि उसमें दोनों शैलियों का संयोग-स्थल मिलता है। यह काफ़ी लम्बी कविता है—इसके चित्र बड़े ही भावपूर्ण और सुन्दर हैं। प्रथम-मिलन का चित्र अद्भुत है। कवि की भावुक-कल्पना अत्यन्त उत्तेजित हो उठती है और वह उस चित्र को अत्यन्त व्यापक बना देता है।

इसके उपरान्त कुछ गीतों में कवि ने अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य का विश्व-व्यापी प्रभाव अंकित किया है—सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व उस अनिन्द्य सुन्दरी की छवि की एक झलक पाने को आकुल है—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने नभ के आँगन से !

ऊषा का वातायन से झाँकना कवि की प्रौढ़ मूर्ति-विधायिनी कल्पना का परिचय देता है। दो कविताएं 'मुस्कान' और 'आंख' पर हैं—आँख वाली कविता में सूक्ष्मदर्शिता होने पर भी वह काफ़ी निर्जीव है। हाँ दूसरा गीत—

तुम्हारी आंखों का आकाश,
सरल आंखों का नीलाकाश—

अत्यन्त भाव-प्रवण और भव्य है, प्रेयसी की आँखों के

सरल नीलाकाश में कवि का मन-खग खो गया। पुरानी बात कितने नए ढँग से कही गई है।

अब कवि को चिन्ता होती है कि—

तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल अकूल आकाश !
गूढ़, नीरव गम्भीर प्रसार;
बसाएगा कैसे संसार
प्राण ! इनमें अपना संसार !
न इनका ओर-छोर रे पार,
खोगया वह नव-पथिक अजान

वास्तव में यह कवि की अन्तर्प्रवेशिनी भावुकता की पराकाष्ठा है। इसके आगे की कविता—

आज रहने दो, यह गृह-काज
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज !

का तो ज़िक्र हो चुका है।

ये समस्त प्रणय-गीत हर्ष-उल्लास से भरे हुए हैं—इनमें एक अपना मादक वातावरण है। इनमें अपना मधुवन है। यौवनोन्मत्त कवि को समस्त प्रकृति में प्रेयसी की मदिर छवि का दर्शन होता है—और वह पागल-सा प्रत्येक फूल-लता द्रुम, सरसी आदि पर मँडराता फिरता है। दो एक चित्रों का अवलोकन कीजिये। 'मधुवन' में वह कहता है :

आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण !

इन कविताओं में से एक कविता रूढ़ि-परिपालन के रूप में होने के कारण खटकती भी नहीं है। उन्मादमयी 'डोलने लगी

मधुर मधुवात' आदि । यहीं कुछ कृतियाँ बहुत पहले की हैं जो वीणा की शैली की याद दिलाती हैं ।

इन मालाओं के अतिरिक्त कुछ कविताएँ एकान्त-स्फुट हैं । उनमें नौका-विहार, अप्सरा, एक तारा, चाँदनी आदि बड़ी-बड़ी कविताएँ हैं पन्तजी की कविकाओं में 'नौका-विहार' अपने चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं । वास्तव में शब्द और तूली में इतना निकट सम्बन्ध हिन्दी का कोई कवि स्थापित नहीं कर सका । 'अप्सरा' में कल्पना की करामात है—परन्तु उसमें शक्ति के अभाव और अलंकृति के आधिक्य के कारण लद्दूपन आगया है । 'एकतारा' कविता में बड़ी ही गम्भीर दृष्टि का उन्मीलन है । इस कविता के चित्र चञ्चल न होकर स्थिर, और रंग गहरे हैं । साथ ही एकाकीपन पर दार्शनिक विवेचन भी है । यह १९३२ की ही दर्शन-प्रधान कविताओं की एक कड़ी है ।

अविरत-इच्छा ही में नर्तन,
करते अबाध रवि, शशि, उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल,
क्या नीरव, नीरव नयन सजल,
जीवन निसंग रे व्यर्थ-विफल !
एकाकीपन का अंधकार,
दुस्सह है इसका मूक-भार
इसके विषाद का रे न पार ।

चाँदनी पर गुञ्जन में दो कविताएँ हैं—एक छोटी है जिसमें उसका रुग्ण चित्र खींचा गया है—दूसरी काफी लम्बी रचना है । इसमें चाँदनी का हर्षोत्फुल्ल उज्ज्वल चित्र है । इन दोनों कृतियों में पहली ही अधिक भावगम्य और चित्रोपम है । उसमें चाँदनी को रुग्ण-बाला के रूप में अंकित किया है—

जग के दुख-दैन्य शयन पर
यह रुग्णा-जीवन बाला
रे कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल
कृश देह लता कुम्हलाई,
विवसना लाज में लिपटी
साँसों में शून्य समाई।

'विहग के प्रति' कृति में कवि का आत्म-सन्तोष झलकता है। अपनी युवावस्था ही में कवि देखता है कि—सुप्त हिन्दी-जगत में उसने एक साथ जीवन प्राण फूँक दिया है—तो उसका हृदय सन्तोष से परि-पूर्ण हो जाता है—

सुप्त जग में था स्वप्निल-गान,
स्वर्ण से भर दी प्रथम प्रभात,
मञ्जु गुञ्जित हो उठा अजान
फुल्ल जग जीवन का जलजात।

इस कविता में कवि का अपनी कला के विषय में भी संकेत मिलता है। वह कहता है कि—

सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात
नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास
छा दिये तू ने, शिल्पि-सुजात !
जगत का डाल-डाल में वास।

अन्त में सर्वाङ्गीण दृष्टिपात करने पर हमें गुञ्जन में कवि का विकासोन्मुख प्रयास स्पष्ट दृष्टिगत होजाता है। विचारों की दृष्टि से भी, पल्लव का जीवन के प्रति करुणा विराट भाव गुञ्जन में नहीं मिलता—धीरे-धीरे वह अब जीवन में आनन्द का अनुभव करने लगता है। निराशा एक साथ आशामय होकर बोल उठती है, और वह कहता है—

हे जगजीवन के कर्णधार,
चिर जन्म मरण के आर पार
शाश्वत जीवन-नौकाविहार !
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्वदान !

वास्तव में पल्लव की वह कलकण्ठ पुकार गुञ्जन में आकर संयत हो जाती है। चिन्तन एक प्रकार से अनुभूति को दबा लेता है। गुञ्जन की कविताएं मनन की वस्तु हैं। इसी कारण वे एक साथ हृदय को स्पर्श नहीं करती।

पन्तजी ने पल्लव की भूमिका में भाषा के विषय में एक स्थान पर लिखा है—जिस प्रकार बड़ा चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में, ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गला कर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है। वास्तव में गुञ्जन की भाषा का इससे अधिक सच्चा वर्णन और नहीं हो सकता। कवि ने अपने चिन्तन और भावुकता के ताप में भाषा को गला कर पूर्णतया मृदुल बना दिया है। इससे उसकी महाप्राणता तो अवश्य नष्ट हो गई है परन्तु फिर भी उसमें एक रेशमी मार्दव अवश्य आगया है। इसी कारण पल्लव की अपेक्षा गुञ्जन में पन्तजी की कला हलके, तितलियों के पंख लेकर उड़ी है। उसमें पंखों की वह सरसराहट नहीं है जो अत्यन्त सजीवता की द्योतक है। उसके रङ्ग भी इतने चटकीले न रह कर सिल्किन (Silken) होगये हैं।

इन सभी बातों के कारण गुञ्जन के पाठक को आरम्भ में कुछ निराशा सी होती है—जो कि प्रत्येक मनन की वस्तु के

प्रथम-परिचय में हुआ करती है। वास्तव में पल्लव से गुञ्जन को ऊँचा स्थान देना तो कदापि सम्भव न होगा—परन्तु यह दूसरी दिशा में कवि का प्रयाण है—इसलिए जीवन का द्योतक है। अस्तु—

'ज्योत्स्ना'

गुञ्जन के उपरान्त १९३४ ई० में पन्तजी ज्योत्स्ना नाटिका में प्रकट हुए। कविवर निराला के शब्दों में ज्योत्स्ना में उनका पहला, प्रिय भावमय श्वेत वाणी का कोमल कवि रूप ही दृष्टिगोचर होता है, नाटककार का नहीं। गुञ्जन में हमने देख लिया था कि कवि की काव्य-धारा किस प्रकार प्राकृतिक क्षेत्र से हट कर मानव-जीवन के क्षेत्र में अवतरित हो गई थी और अब वह दार्शनिक सत्यों की ओर झुक गया था। इसी विचार-धारा का विकसित स्वरूप ज्योत्स्ना में मिलता है। ज्योत्स्ना पाश्चात्य Allegory के ढंग का रूपक है जिसमें अमूर्त्त भावनाएँ एवं विचार मूर्त्त पात्रों के रूप में प्रकट होकर किसी सिद्धान्त विशेष की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के काव्यों में सिद्धान्त की प्रधानता होने के कारण उनका रूप शिक्षा-प्रधान (Didactic) हो जाता है। इसी कारण उनकी गणना उत्कृष्ट काव्यों में नहीं होनी चाहिये—परन्तु फिर भी लेखक की व्यक्तिगत प्रतिभा का स्वतन्त्र महत्व तो होता ही है और वह किसी भी रूखे-सूखे विषय को अपने दिव्य प्रकाश से चमका देता है। स्पैंसर की फेअरीक्वीन भी तो (Allegory) है न! प्रसादजी की 'कामना' नाटिका का भी कम महत्त्व नहीं।

हाँ, तो ज्योत्स्ना भी उपरोक्त प्रकार का रूपक है। पन्तजी ने आधुनिक संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिये कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि की है और उन्हीं की वाहिका-स्वरूप यह मूकनाटक है। इसकी कथावस्तु बहुत मामूली है—लगभग

नहीं के बराबर। संसार में सर्वत्र ऊहापोह और भयानक क्रान्ति देख कर इन्दु उसके शासन की बागडोर अपनी भगिनी ज्योत्स्ना को दे देता है जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न और कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श स्थापित कर देती है। यही कथा पाँच अङ्कों में कही गई है। पहले अङ्क में सन्ध्या और छाया का पारस्परिक वार्तालाप सूचना देता है कि इन्दु अपने शासन की बागडोर वह ज्योत्स्ना को देना चाहता है; और साथ ही संकेत करता है कि संसार में स्वर्ग उतर आयेगा। दूसरे में विलासी इन्दु और चंचला विश्व-प्रेमिका ज्योत्स्ना अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित होते हैं। इन्दु ज्योत्स्ना को भूलोक के शासन की बागडोर दे देता है और उसे संसार में स्वर्ग उपस्थित करने की प्रेरणा करता है। इस प्रकार विकसित होता है। तीसरे अङ्क में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि के साथ मर्त्यलोक में आ जाती है और संसार की स्थिति पूछने पर पवन उसके समक्ष आधुनिक युग का एक बड़ा ही सशक्त और सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। वह बतलाता है कि 'एक ओर धर्मान्धता, अन्ध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़ कर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव, एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है। इतने ही में मर्त्यलोक के दूत के रूप में झींगुर का कर्कश स्वर सुनाई देती है जो पवन के विश्लेषणात्मक वर्णन का संश्लिष्ट रूप में समर्थन करता है—

> जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
> जीने का है अधिकार उसे

उसका लाठी का बल निश्च,
पूजता सभ्य संसार उसे।

इस बेसुर आलाप को सुन कर ज्योत्स्ना की सहानुभूति एक साथ उत्तेजित हो जाती है। वह पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर उन्हें स्वप्न और कल्पना का रूप दे देती है और फिर उनको आज्ञा देती है कि काव्य, संगीत, शिल्प—एक शब्द में—कला द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करें और उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करें। स्वप्न और कल्पना उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने उपायों (Designs) का एक छाया प्रदर्शन उपस्थित करते हैं—बस वे—स्वप्न और कल्पना-सुप्त मनुष्य जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जागृत करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए कोमल और स्वस्थ मानसी भावनाएँ प्रकट होती हैं, जिनके नाम हैं—भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, समतानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह कला आदि-आदि। इनके प्रसार से मर्त्यलोक की कायापलट जाती है और वह विश्व-बन्धुत्व की स्थापना द्वारा एक आदर्श गृहस्थ का रूप धारण कर लेता है। इसी में पन्तजी की सामाजिक, राजनैतिक, कला और सदाचार सम्बन्धी, भावनाओं के प्रतिरूप भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष उपस्थित होते हैं और अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं।

इसके उपरान्त ज्योत्स्ना अपना कार्य समाप्त कर पुनः स्वर्गलोक को प्रयाण कर देती है और चौथे अंक में छाया और उल्लू देखते हैं कि सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ जाने पर प्रयोजन न रहने के कारण, असत्प्रवृत्तियाँ अनेकों कदाकार कुरूप वेश धारण कर धीरे-धीरे तम में विलीन हो रही हैं। तथा

पक्षी आगामी प्रभात की सूचना देता है। पाँचवाँ अङ्क अब इस दुर्धर और भयंकर अन्धकार के उपरान्त एक साथ प्रकाश बिकीर्ण कर देता है। ऊषा का आगमन संसार में स्वर्ग ला देता है। ओस, तितली, लहर आदि सभी में सुख का संगीत फूट निकलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कथानक का एक विकास तो अवश्य है परन्तु उसका तानाबाना वायवी होने के कारण यह विकास स्पष्ट लक्षित नहीं होता।

✓पन्तजी ने जो विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य द्वारा अपना नया स्वर्ग निर्माण किया है, उसी का उन्होंने इस नाटिका में अङ्कन किया है। इसका सारांश यह है कि 'जिस प्रकार यह पृथ्वी बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट संस्कृति की आवश्यकता है।' कवि की सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक प्रेम एवं कला सम्बन्धी भावनाएँ इस रूपक में बड़े स्पष्ट रूप से मिलती हैं। इनकी ओर संकेत पन्तजी की विचारधारा शीर्षक लेख में किया जा चुका है। ये सभी विचार प्रौढ़ चिन्तन और अध्ययन के फल स्वरूप हैं और बड़े सशक्त शब्दों में अभिव्यक्त किये गये हैं।

नाटक की दृष्टि से देखने पर जैसा कि वस्तु विकास से स्पष्ट है यह कृति सर्वथा असमर्थ है क्योंकि इसमें न कार्य (Action) का कहीं पता है न कहीं चरित्र-विकास का; यद्यपि इन्दु, ज्योत्स्ना, पवन और दूसरे भक्ति आदि पात्र काफी स्पष्ट हैं परन्तु वे भावनाओं के पुतले हैं। उनका मांसल व्यक्तित्व नहीं।

वार्तालाप की भी यही दशा है। इस नाटकी पात्रों का वार्तालाप बड़ा गम्भीर, प्रौढ़ और सैद्धान्तिक होते हुए भी हमें वार्तालाप के रूप में तनिक भी आकृष्ट नहीं करता। उसमें एक

अनावश्यक खिंचता है। कहीं उल्लू आदि की दो एक बातें चापल्य लिये हुए हैं। तीसरे अंक में वेदव्रत, सुलेमान, हेनरी की बातें सुन कर तो लगभग सभी पाठकों को यही कहना पड़ता है कि—'आप दार्शनिक हैं—इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं।' इसी कारण कार्य (Action) का इसमें नाम तक नहीं—रूपक में वैसे भी होता ही कम है।

परन्तु ज्योत्सना का मूल्य इस दृष्टि से नहीं है। उसके महत्त्व का अनुभव करने के लिए हमें देखना चाहिये उसका दृश्य-विधान, उसके गीत और अन्त में उसका दार्शनिक उद्देश्य।

दृश्यों के चित्रण में पन्तजी ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि और चितेरी कल्पना ने संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, झींगुर, और एक प्रकार से, सभी काव्यगत अमूर्त वस्तुओं का बड़ा ही सजीव एवं सच्चा चित्रण किया है। प्रत्येक चित्र व्यञ्जना की सहायता से अपूर्व सत्यता लिये हुए है। दृश्यविधान ज्योत्स्ना का-सा मेरे विचार में और किसी नाटक में कठिनता से मिलेगा।

कुछ दृश्य देखिये—सब से पूर्व सन्ध्या का एकान्त निवास दृष्टिगोचर होता है, उसका अवलोकन कीजिये—'सिन्दूरी रंग के अस्ताचल पर गेरू की ईंटों से निर्मित, सन्ध्या का एकान्त निवास। उत्तर, दक्षिण, पूर्व की ओर तीन बड़े-बड़े छत-चूड़ झरोखे, जिसमें हलके धानी रंग के परदे दूरवर्ती दिगन्त का आभास दे रहे हैं। पश्चिम की ओर प्रवाल का विशाल प्रवेश-द्वार जिसके ऊपरी भाग में लाल पोतों की अर्धवृत्त लड़ियाँ झूल रही हैं। आसमानी रेशम की छत पर, इधर-उधर साँझ के बादलों की टुकड़ियों की तरह, गुलाबी रेशमी जालियाँ लटकी हैं, बीच-बीच में पक्षियों के दो तीन जोड़े हुए चित्र कढ़े हैं—

दूसरा दृश्य ज्योत्स्ना और इन्दु के शयनागार का है। देखिये उसमें किस प्रकार चाँदनी और चाँदी बिखरी पड़ी है—

'रात्रि का प्रथम पहर। इन्दु का विशाल, अष्टकोण नीलम का अन्तःपुर, नीहार की आसमानी छत पर जाज्वल्यमान मणि-रत्नों का नक्षत्र-लोक अविराम-लय में घूम कर शीतल प्रकाश विकीर्ण कर रहा है। वायु-मण्डल में, मधुर झंकारों की तरह विद्युत रेखाएं लहरा कर विलीन हो रही हैं। शीशे की विशाल शिलाओं से खचित दीवारों के निम्न भागों में एक ही आकृति अनेक प्रतिच्छवियों का रूपाभास प्रतिफलित करती है। ऊपरी भाग में, प्रवाल के फ्रेमों में सुरांगनाओं के पूर्णाकृति निरावृत चित्र टँगे हैं।'

इन विलासमय दृश्यों के अतिरिक्त कुछ भयंकर दृश्यों का अङ्कन भी किया गया है। चौथे अङ्क का परिवर्तित दृश्य एकदम सजीव है। इससे भी अधिक कौशल कवि ने अमूर्त्त वस्तुओं और भावनाओं के बाह्य चित्र अङ्कित करने में दिखाया है। अपने एकान्त निवास में बैठी चिन्तामग्न सन्ध्या की एक झांकी देखिए—'......जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहने प्रौढ़ उम्र संध्या, निष्कम्प दीप-शिखा की तरह दत्त-चित्त बैठी है। मृणाल सी लम्बी, पतली, खुली बाहें, वक्षस्थल के साँझ के मनोज बारीक सुनहली कञ्चुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिन्ता की रेखाएँ; भौंहें पतली, कुछ अधिक झुकी हुई—स्निग्ध शान्त आनन; शान्त गम्भीर मुद्रा, कपोलों, कंधों एवं पृष्ठ भागों पर रुपहले, सुनहले बाल बिखरे।'

आपने सुरभि का मधुर अनुभव तो न जाने कितनी बार किया होगा उसका मूर्त्त स्वरूप भी देखिए—

'आर्द्र और पुष्पों के हृदय से उल्लसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पंखड़ियों से लदी, लालसा से लाल पल्लवों की चोली पहने, मदिर गंध निर्गत करती, केसरी अलकों में रजनी-गंधा की माला बाँध रही है।

आगे अपने चिर-परिचित झींगुर पर भी तो एक दृष्टिपात कीजिए : 'तांबे का सा रंग, दृढ़ पुट्ठे; लौह-तार सी नाड़ियाँ सख्त चौड़ा पंजा, न मुड़ने वाली अंगुलियाँ, काँच की-सी चमकीली भाव-शून्य आँखें, मोटे ओठ, तीर-सी तनी लम्बी-लम्बी ऐंठी मूछें।.........उसके कंधों पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्ठे बँधे हैं।....'

कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी ने 'स्वप्नों के वायवी सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बांध कर जो कार्य किया है वह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।' ज्योत्स्ना में अनेक प्रकार के गीत मिलेंगे। कहीं छाया का अलसाया हुआ गीत है तो कहीं पवन का सनसन गान है; ताराओं का गीत यदि टिमटिमाता है, तो किरणों का प्रकाश-चञ्चल है। एक ओर ओस का चटुल तरल तराना है तो कहीं झींगुर का पशुवृत्तियों से प्रेरित कर्कश गान। वास्तव में ज्योत्स्ना के सभी गाने प्रतीकात्मक हैं। उनमें नायक के बाह्य और अन्तर का पूर्ण सामञ्जस्य मिलता है। साथ ही व्यञ्जना की सहायता से वे पात्रों के मुख में उचित रूप से फिट भी कर दिये गये हैं। इन सभी गीतों में पन्तजी के भावों की सुकुमारता, कल्पना की सूक्ष्म ग्राहकता और शाब्दिक शक्ति की चित्रमयता का पूर्ण प्रमाण मिलता है। साथ ही उन सभी में नाटकोचित संगीत धारा भी है। तनिक जुगनुओं का गीत तो सुनिए—देखिए किस प्रकार उसमें जुगनुओं की सी जगमग है—

जग मग जग मग, हम जग का मग
ज्योतित प्रतिपग करते जग मग!

× × × ×

चञ्चल चपल, झुम-झुम जल जल,
शिशु-कर पल-पल, हरते छल-छल!

आगे प्रकाश मूर्तियों का गीत लीजिए—एक अपूर्व प्रकाश-प्रवाह के अतिरिक्त उसमें दार्शनिक गांभीर्य भी अक्षय है—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय,

× × × ×

चिर महानन्द के पुलकों से
झर-झर नित अगणित लोक-निचय
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर-चक्र-निर्भय !

सुखी कृषकों का गाना भी कितना स्वस्थ है—

गूँजे जयध्वनि से आसमान
सब मानव मानव हैं समान !
निज कौशल, मति इच्छानुकूल
सब कर्म-निरत हों भेद-भूल
बन्धुत्व-भाव ही विश्व मूल
सब एक राष्ट्र के उपादान !

अन्त में एक गाना लहरों का और सुनकर इस प्रसंग को समाप्त कीजिए—

अपने ही सुख में चिर-चञ्चल,
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल !
चिर-जन्म-मरण को हँस-हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठ कर
फिर-फिर असीम में हो ओझल !

अब दार्शनिक उद्देश्य रह गया। ज्योत्स्ना में नाटक का ढाँचा ही कुछ सिद्धान्तों की व्यवस्था करने को ग्रहण किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह उद्देश्य बड़ा महान और दिव्य है, ज्योत्स्ना

में कला, प्रेम, सत्य, शासन, आदि-आदि अनेक जीवन-तथ्यों पर पन्तजी के अपने विचारों का बड़ा सुन्दर संकलन है। इनका निदर्शन विचार-धारा में हो ही चुका है। वास्तव में विश्वकामना एवं मानव की महिमा से इतने ओत-प्रोत काव्य हिन्दी में अनेक नहीं हैं। इसकी दार्शनिक प्रौढ़ता और भव्यता अपूर्व है। आइए हम भी कवि के साथ गायें—

मंगल चिर-मंगल हो
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशिपल हो।
तमस- मूढ़ हों भास्वर,
पतित-क्षुद्र, उच्च-प्रवर,
मृत्यु-भीत नित्य अमर
अगजग चिर उज्वल हो।

युगान्त

युगान्त में पन्तजी सौन्दर्य-युग का अन्त कर देते हैं। इससे पूर्व वे 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानी' लिख चुके थे। इस संग्रह की अधिकांश रचनायें १९३४-३५ की ही हैं—यद्यपि इनमें एक-आध कृति जैसे 'सन्ध्या' सन् १९३० की भी है। युगान्त क कविताएं चिन्तन-प्रधान हैं। ३४-३५ में लिखी हुई प्रायः सभी कविताओं में दार्शनिक गांभीर्य मिलेगा—साथ ही इन समस्त कविताओं में एक सूत्र गुम्फित मिलेगा—एक अंतर्धारा मिलेगी जो कवि के तात्कालिक विचारों और भावनाओं से सम्बन्ध रखती है। इन सभी में मानव-जगत की मंगलाशा ओत-प्रोत हुई है। पल्लव का कल्पना-निहित भाव जो गुञ्जन में आकर समझौते का एक माध्यम बन चुका था युगान्त में आकर पूर्णतया सांस्कृतिक कामनाओं का वाहक हो गया है। इन कृतियों में कवि जगत के जीर्ण स्थान में नव प्रभात लाने को शुभाकांक्षा आर-

वार करता हुआ देखा जाता है। उसका करुणाप्लुत-हृदय लोक-हित से पूर्ण हो गया है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की पूर्णता स्थापित करने की शुभेच्छाओं से आकुल है।

मैं झरता जीवन-डाली से
साह्लाद शिशिर का शीर्ण पात
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नव मधु का प्रभात!

वह बार-बार अपने गीत-खग से कहता है—

जगती के जन-पथ कानन में
तुम गाओ विहग! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण!
× × ×
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन निशीथ
वे देखेंगे जीवन—प्रभात।

यही विचार-धारा युगान्त की प्राण-धारा है। कवि ने अधिकांश गीतों में इसी की नवीन-नवीन ढंग से अभिव्यञ्जना की है। युगान्त की कविताएँ इसी सन्देश से मुखरित हैं। प्रकृति की रंग-स्थली को शतदल की भाँति सुवासित देख, कवि का हृदय मानवता की दीन दशा का स्मरण कर एक साथ कह उठता है—

हे पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज, कुसुम, आतप घन?

इसका कारण भी स्पष्ट है—वह कहता है कि—

जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन-सार्थकता।

इसी अखण्ड और मधुर व्यापकता को फिर से मानव जग में देखने के लिये मंगलाशी कवि का हृदय व्याकुल है। देखिये वह किस प्रकार कोकिल से मनुहारें करता है—

गा, कोकिल, बरसा पावक कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के, जड़-बंधन
पावक-पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

युगान्त में पन्तजी की रचनायें पूर्णरूप से नैतिक (Ethical) हो गई हैं। वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

जग जीवन में जो चिर महान
सौंदर्य-पूर्ण औ सत्य-प्राण
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ !
जिसमें मानव-हित हो समान।

परन्तु फिर भी उक्त भावनाएँ केवल शुष्क दार्शनिक विचार नहीं हैं। कवि का हृदय उनमें विभोर हो रहा है। इन कविताओं में आवेश और आवेग की कमी नहीं है, उनमें उन्मुक्तता पूरी है। एक दिन प्रातःकाल कवि देखता है कि—

वे डूब गए—सब डूब गए
दुर्दम, उदग्र-शिर अद्रि-शिखर
स्वप्नस्थ हुये स्वर्णातप में,
लो, स्वर्ण-स्वर्ण अब सब भूधर !

× × × ×

तुरन्त ही उसके हृदय में आशा का संचार हो उठता है और वह एक साथ फूट पड़ता है :—

मानव-जग में गिरि-कारा-सी
गत-युग की संस्कृतियें दुर्धर

बन्दी की हैं मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का प्रकाश,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह
छू मानव-आत्मा का स्पर्श।

पहले पद में 'डूब गये' और दूसरे में 'डूबेंगी' की पुनरावृत्ति हृदय के उमड़े हुए आह्लाद और आवेग की स्पष्ट व्यञ्जना कर रही है। यही बात इससे आगली कविता 'तारों का नभ, तारों का नभ' में है। हाँ, एकाध स्थान पर जब वे शुद्ध अद्वैतवाद का बखान-सा कर निकलते हैं तो कुछ शुष्कता आ जाती है—उदाहरणार्थ 'शत बाहु-पाद, शत नाम-रूप' कविता में। इससे आगे की भी दो कविताएँ दार्शनिक सत्य का व्याख्यान करती हैं, परन्तु कवि की कल्पना ने जो प्रभूत अलंकरण-सामग्री (Imagery) उन पर व्यय की है, उसने उनके शुष्क तापसी रूप को शकुन्तला बना दिया है। देखिए विश्व-सृजन के दृश्य का चित्रण कितना सुन्दर है—

गुँथ गये अजान तिमिर-प्रकाश
दे-दे जग-जीवन को विकास,
बहु रूप-रंग-रेखाओं में
भर विरह-मिलन का अश्रु-हास।

इस संग्रह में दो एक आशीः वचन जैसी कृतियाँ भी हैं जो अपने ढंग पर काफी सुन्दर हैं—

जीवन के नव-बन्धन बाँधो
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में, स्मिति अधरों में
जीवन की तामस-वेणी में,
निज प्रकाश-कण बाँधो!

'मानव' कविता में पन्तजी की मानव-पूजा मुखरित हो उठी है।

इस आध्यात्मिक गीत-माला का सुमेरु है 'बापू के प्रति' कविता। वास्तव में कवि ने बापू में अपने आदर्शों का मूर्तिमान स्वरूप पा लिया है। बापू मानवता को मुक्त करने के लिए अवतरित हुए हैं अतः मानवपन का पूर्ण विकास उनमें उसे मिल गया है। इसी कारण इस कविता में उसका चिन्तन अनुभूति से प्रेरित होने के कारण बोल उठा है और अपनी अपूर्व मूर्तिविधायिनी कल्पना की सहायता से जो मूर्ति उसने गढ़ी है वह दिव्य है। इस कविता को विषयानुरूप कह देना इसका सब से बड़ा गौरव है। अंगरेज़ी ओड (Ode) की शैली पर होने के कारण इसमें सम्बोधन (address) की प्रधानता है—और हमारे मनीषी कलाकार ने उनके चयन एवं निर्माण में अपूर्व कौशल और भावुकता का परिचय दिया है। पहले ही पद में कई विशेषण हीरे के सदृश जड़े हुए हैं—

> तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल—
>
> × × ×
>
> तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
> जिसमें असार भव शून्य लीन।

आगे कवि कहता है—

> सुख-भोग खोजने आते सब
> आए तुम करने सत्य खोज।
> जग की मिट्टी के पुतले जन
> तुम आत्मा के, मन के मनोज।

इस कृति में कवि ने बापू के सिद्धान्तों और कृत्यों का भी काव्यमय सुन्दर वर्णन किया है—देखिए महात्माजी की चर्खा-योजना का कितना विशद वर्णन है—

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद।

× × × ×

इसी प्रकार उसने एक-एक पद में उनके असहयोग आन्दोलन, अहिंसा, दार्शनिक विज्ञान, आदि का बड़ा कवित्वपूर्ण चित्रण किया है। सुनिये कितने थोड़े शब्दों में कवि गांधी-दर्शन की व्याख्या करता है—

ये राज्य, प्रजा, जन, साम्य-तन्त्र,
शासन-चालन के कृतक यान;
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र,
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष-ज्ञान;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन—उपकरण - चयन—प्रधान;
मथ सूक्ष्म—स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता का विधान।

अन्त में आइये हम भी कवि के साथ बापू को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करलें।

आए, तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़-बंधन सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं मा भैः
जय ज्ञान-ज्योति, तुमको प्रणाम!

इन कविताओं के अतिरिक्त युगान्त में कुछ कृतियाँ कवि के जन्मसिद्ध प्रकृति-प्रेम की व्याख्या करती हैं। वे हैं वसन्त, तितली, सन्ध्या, शुक्र, छाया, बाँसों का झुरमुट, आदि। युगान्त में कवि का प्रकृति के प्रति भी दृष्टिकोण कुछ बदल गया है।

इन कृतियों में प्राकृतिक दृश्यों के ऐन्द्रिय चित्रण न मिलेंगे। कवि तो अब बाह्य प्रकृति की अन्तरात्मा पहिचानने लगा है इसीलिए इन प्रकृति-विषयक कविताओं में आन्तरिकता अधिक है। साथ ही इनके सभी दृश्य हर्षोत्फुल्ल और आह्लादपूर्ण हैं और इसीलिए उनके रंग चटकीले और गहरे हैं। वसन्त चित्रों के कुछ रंग देखिए—

पल्लव पल्लव में नवल रुधिर—
पत्रों में मांसल-रंग खिला,
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला।

* * * *

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न,
अलि के अन्तर में प्रणय गान,
लेकर आया, प्रेमी वसन्त,
आकुल जड़ चेतन स्नेह-प्राण

—वसन्त का चित्र अत्यन्त भावमय होगया है। आगे अल्मोड़े का वसन्त तो देखिये कितना सजीव है—

लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,
यह है अल्मोड़े का वसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी।

दूसरी पंक्ति में अनुभूति बोल रही है। 'छाया' पर लिखी दोनों कविताएँ अनमोल हैं—इनमें पहली शुद्ध भावमय गीति का उदाहरण है—दूसरी में दार्शनिकता और चिंतन का प्राधान्य है। छाया की गहनता का चित्रण अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है।

पट पर पट केवल तम अपार
पट पर पट खुले, न मिला पार।

इसके उपरान्त ही 'शुक्र' कविता पाठक की बढ़ती हुई दृष्टि
। एक साथ चमक कर 'कौन' उठती है—

छाया के एकाकी प्रेमी
नीरव दिगन्त के शब्द मौन।
रवि के जाते, स्थल पर आते,
कहते तुम तम से चमक-कौन?

अन्तिम पंक्ति में पन्तजी की सूक्ष्म ग्राहिणी दृष्टि और मूर्ति-
ती कल्पना एक साथ सजग हो उठी हैं। 'तितली' में तितली
का सा ही चटकीलापन और चाञ्चल्य है। उसके दो एक विशे-
णों की सांकेतिकता पर विचार कीजिये—

तुमने यह सुमन-विहग लिबास
क्या अपने सुख से स्वयं बना?

× × × ×

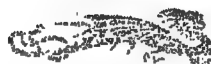
क्या बाहर से आया, रंगिणि
उर का यह आतप, यह हुलास,
या फूलों से ली अनिल-कुसुम।
तुमने मन के मधु की मिठास!

'सुमन-विहग' और 'अनिल-कुसुम' से अच्छा तितली का
और क्या वर्णन हो सकेगा।

युगान्त में कवि की कला और शैली में भी एक साथ परि-
र्तन दृष्टिगोचर होता है। गुञ्जन में जो कला तितली के पंख
लेकर उड़ी थी वह युगान्त में आकर मांसल हो गई है। उसके
लघु-लघु गात अब पृथु और बलिष्ठ हो गए हैं। जैसा कवि ने
स्वयं लिखा है—युगांत में पल्लव की कोमल-कांत कला का
अभाव मिलेगा। भाषा में ज्योत्स्ना के गीतों की रुनझुन नहीं है—
उसमें है एक सबल ओज। कवि को यहाँ अनावश्यक काट-छाँट
की आवश्यकता नहीं पड़ी, इसलिए युगांत

की भाषा में वांछित महाप्राणता है। उसकी व्यञ्जना-शक्ति अत्यन्त विकसित और सशक्त है। गुञ्जन और ज्योत्स्ना के गीतों के उपरान्त पन्तजी की सुकुमारी भाषा में यौवन की नहीं—प्रौढ़ता की 'मांसल स्वस्थ गंध' आ गई है—उसके स्नायुओं में अब यथेष्ठ काठिन्य आ गया है। ज्योत्स्ना के गद्य और युगांत के गीतों में भाषा की दृष्टि से एक विशेष साम्य है। सारांश यह है कि कवि की नारी-कला पौरुषमय होगई है।

अन्त में युगांत में कवि ने जिस 'नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, हमें विश्वास है कि भविष्य में वे उसे अधिक परिपूर्णरूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकेंगे।'



उपसंहार

पन्तजी ने एक विशेष-परिस्थिति में काव्य-साधना प्रारम्भ की थी। उस समय काव्यक्षेत्र में जागृति के लिए कुलबुलाहट हो रही थी। ठीक इसी समय प्रसादजी और उनके कुछ ही उपरान्त कविवर निराला और हमारे पन्तजी ने इस जागृति का मन्त्र फूँका—जागृति से मेरा तात्पर्य राष्ट्रीय जागृति से नहीं, यहाँ तात्पर्य शुद्ध साहित्यिक जागृति से है। मेरे इस कथन से कविवर हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त के प्रति अन्याय की कोई सम्भावना नहीं। वास्तव में उन्होंने तो इस क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन और प्रवर्तन कर दिया था परन्तु उनके आदर्श प्राचीन ही थे। हिन्दी के रोमान्टिक युग के सूत्रधार यही कवि-त्रय हैं। इन उदीयमान युवक कवियों ने सबसे पहला और बड़ा कार्य यह किया कि हिन्दी कविता को मानसिक अकर्तृत्व या निर्लेपता (Mental passivity) की दलदल से निकाल कर हृदय की चिर-उर्वरा भूमि में ले आए। आत्म-व्यञ्जना (Subjectivity) की पुकार करने वाले ये पहले कवि थे। ऊषा की छवि में विश्व-कामिनी की मुस्कान, तारों में जीवन के खेल, और चाँदनी में रात्रि का अभिसार सब से पहले इन्हीं कवियों ने देखा और प्रकृति के स्पन्दन से अपने हृदय के स्पन्दनों का स्वर मिलाया। विकास के साथ तीनों के व्यक्तित्व स्वाभावानुरूप तीन पृथक धाराओं में बह निकले। प्रसाद का क्षेत्र हृदय-प्रेम, निराला का दार्शनिक भावजगत, और पन्तजी का प्रकृति और मानव का सम्पर्क तथा कलाक्षेत्र पर प्रभुत्व हुआ। उन्होंने हिन्दी कविता-धारा को एक नई

(Rut) से हटा कर एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित किया। उन्होंने ही वास्तविक गीति-काव्य की कला का विकास-विवर्धन किया।

पन्तजी मननशील (Conscious) कवि हैं। अन्तः प्रेरणा तो सभी सत्कवियों में होती ही है और वह हमारे कवि में किसी अन्य कवि से कम नहीं—परन्तु जहाँ तक मननशीलता का सम्बन्ध है—वहाँ उस का एक विशेष स्थान है। पन्तजी चिन्तन-शील कवि हैं—वे अपने सभी भावों को सभी विचारों और अनुभवों को चिन्तन के ताप में गला-गला कर ऐसा एकसार और तरल बना लेते हैं कि वे बिना प्रयास के भाषा में बह निकलते हैं। इसी कारण मेरे विचार में इतना शांत आत्म-प्रच्छन्न और संयत कवि हिन्दी में कोई नहीं। यह कवि अत्यन्त सूक्ष्म-निरीक्षक, व्यापक-विचारवान और गम्भीर भावज्ञता-समन्वित है—परन्तु उसके चिंतन ने उसे ऐसा अपूर्व संयम प्रदान कर दिया है कि वे सभी गुण अपने में लीन हो गये हैं। इसी कारण स्थूल भावुकता (Sentimentalism) पन्त में नहीं और उसके काव्य और प्रतिभा का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये एक सूक्ष्म और अन्तरप्रवेशिनी भावुकता की आवश्यकता है। वास्तव में एक बार पढ़ने से ही पन्त जी की कविता का आस्वादन नहीं हो सकता—उसका तो "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन त्यों त्यों खरी निकसे-सी निकाई" के अनुसार मनन करना पड़ेगा। यह चिन्तन-मूलक आत्म-संयत सूक्ष्मता पन्तजी की अपनी विशेषता है। यह तो रही उनकी आन्तरिक काव्य-साधना। जहाँ तक कविता की बाह्य-सज्जा और अलंकार-साधना का सम्बन्ध है वहाँ तक तो पन्त विकासशील होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं। कलाकार की दृष्टि से पन्त जी का हिन्दी में स्थान सर्वोच्च है। हिन्दी कविता को उन्होंने एक नवीन भाषा, नवीन रूप-रेखा और नवीन कला प्रदान की है—उन्होंने खुले रूप में हिन्दी-

कला की मूर्ति गढ़ी है। वे हिन्दी के सुन्दरतम कलाकार हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता—और हाँ, उन्होंने जिस नवीन मार्ग को अपनाया है उससे यही आशा होती है कि वे महान् कलाकार के रूप में भी शीघ्र ही अवतरित होंगे। वे सुन्दर के कवि हैं—भविष्य में शिवं, सत्यं और विराट के कलाकार होकर हिन्दी को गौरवान्वित करेंगे—ऐसी आशा सर्वथा सुसंगत है। वे इस ओर प्रयासशील हैं—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल।



उत्तरार्द्ध

१६४०

आज की हिन्दी कविता और प्रगति

राजनीति में जिन प्रवृत्तियों ने गांधीवाद को जन्म दिया, क़रीब-क़रीब वैसी ही प्रवृत्तियों द्वारा साहित्य में छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों की मूल-वर्तिनी भावना एक है—स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया अर्थात् स्थूल से हट कर सूक्ष्म की ओर बढ़ने और उसको प्राप्त करने का प्रयत्न। गांधीजी के साथ आत्मा की वस्तु बनकर यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक बन गयी, उधर रवीन्द्र के साथ हृदय में रंग कर उसने छायावाद का रूप धारण किया। गत वर्षों में जिस प्रकार गांधीवाद के प्रति लोगों को यह आशंका होने लगी कि वह आत्मा की ओर अत्यधिक जाता है और शरीर का तिरस्कार करता है—अर्थात् वह हमारे जीवन के स्थूल सत्यों से दूर है, इसी प्रकार छायावाद के सूक्ष्म अन्तर्तत्वों से भी लोगों को निराशा होने लगी। उसके वायवी तानेबाने ने, उसकी परी देश की कोमल कल्पनाओं ने, उसकी अमूर्त सौन्दर्य-भावना ने मन को गुदगुदाया तो अवश्य पर उसे तृप्त करने का साधन उसके पास नहीं था—उससे मन भर न सका। कवि पंत को अपने जीवन के प्रभात में जो आशंका हुई थी—

'अनिल-कंपित कमल-कोमल गात को
अंक भर कर रसिक! किसकी चाह को
वह तृप्त हुई?' (ग्रन्थि)

वही बात हुई, और स्थूल ने एक बार फिर सूक्ष्म के विरुद्ध विद्रोह किया। यह प्रतिक्रिया दो रूपों में व्यक्त हुई—एक तो छायावाद की पलायन-वृत्ति (Escapist mentality) के विरुद्ध दूसरी उसकी अमूर्त-उपासना के विरुद्ध। ऊपर से देखने से इन दोनों में कुछ अंतर प्रतीत होता है, पर वास्तव में इनका अंतर्तत्व एक ही है। जब मूर्त का सामना करने की शक्ति मनुष्य में नहीं होती, तभी वह अमूर्त की ओर जाता है; अतः यह भी एक प्रकार से पलायन ही है। फिर भी दोनों का विकास दो रूपों में होने के कारण इन दोनों को हम कुछ देर के लिये पृथक मान लेंगे। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप आज प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस समय कविता के संकुल ध्वनि-समूह में सबसे अधिक वेग इसी धारा में है। अतः इसकी विवेचना ही पहिले संगत होगी।

प्रगतिवाद—अभी प्रगतिवाद अपनी निश्चित रूप-रेखा नहीं बना सका। समय भी थोड़ा ही हुआ है। अब तक उसकी गति-विधि का अध्ययन करने पर निम्नलिखित धारणाएँ स्थिर होती हैं :—

१—जीवन प्रगति का ही पर्याय है, अतः उसे प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नवान रहना चाहिये।

२—जीवन जीने की वस्तु है, उससे आँख मिला कर खड़ा होना पुरुषत्व है, न कि किसी काल्पनिक सुख की खोज में उस से भागना। जो कुछ सामने है—प्रत्यक्ष है वही सत्य है, अतएव भौतिक जीवन की साधना जीवन में मुख्य है। उससे परे अध्यात्म, परलोक कुछ नहीं। वे केवल पलायन के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

३—साहित्य का प्राण है सौन्दर्य और सौन्दर्य का आधार है साम्य। यह साम्य जीवन में पाना चाहिये। इसके लिए आव-

श्यक है कि समाज में साम्य स्थापित हो। अतः प्रगतिवाद दलितों, पीड़ितों एवं शोषितों की व्यथा को मुखर करता है। जीवन की रूढ़ियों में खोई हुई मानवता को ढूँढ़ निकालना उस का लक्ष्य है; इस मार्ग में बाधक होने वाले शोषक वर्ग से उस का विरोध है। वह उसका उन्मूलन करना चाहता है। चिर-बन्दी मानव को मुक्त करने के लिये वह रूढ़ि-ग्रस्त प्राचीन को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है।

४—परन्तु शोषक-वर्ग की अतुल सहायकशक्ति है प्राचीन संस्कृति अतः उसका पुनर्निर्माण अनिवार्य है। उसके लिए आदर्श (मूल्य) बदलने पड़ेंगे। गत युग का सत्य, शिव, सुन्दर आज निर्जीव है। पिछले सभ्य, शिष्ट और संस्कृत विशेषण आज मन को कुत्सित लगते हैं, क्योंकि उनके पीछे बूर्जुवा (अभिजात वर्ग की) या फ्यूडल (सामन्तीय) प्रेरणाएँ थीं। उनके मूल में अधिकार-भावना थी। इसलिये उनके कारण जनता का शोषण और धनपतियों की वृद्धि होती रही। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक हो सकता है—जनहित! "धर्म नीत औ' सदाचार का मूल्यांकन है जन-हित!" इस प्रकार इस विचार-धारा पर पश्चिम के मार्क्स दर्शन और फ्राइड के मनोविज्ञान का काफी प्रभाव है। मार्क्स की साम्य-दृष्टि और अर्थ-दृष्टि तो भारत के कवि ने पकड़ ली है, पर आत्मा की सत्ता को एक दम अस्वीकृत करने का बल अभी उसमें नहीं आया। मार्क्स का देहात्मवाद अभी उसकी बुद्धि में नहीं बैठ सका। अतः इस विषय में वह अनिश्चित है।

५—संस्कृति के बदलने से स्वभावतः काव्य के आलम्बन भी बदलने चाहिए। अपने मानसिक सुख-दुःख का विश्लेषण, जिसमें प्राचीन संस्कृति को छू आती हो, आज के काव्य का विषय नहीं। जगत की प्रत्यक्ष अवस्थाओं से दृष्टि समेट अपने

में ही उलझे रहना जीवन-शून्यता का चिन्ह है। कलाकार का कर्तव्य है कि जिस समाज में वह रहता है, उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करे, अर्थात् उसकी समस्याओं को सुलझाने में सहयोग दे—जिस देश की वह रोटी खाता है, उस का ऋण चुकावे। इस प्रकार प्रगतिवाद तत्त्व रूप में साहित्य को सामाजिक चेतना मानता है—शुद्ध व्यक्तिगत प्रतिक्रिया नहीं : 'सामूहिकता ही निजत्व अब'। वह सौन्दर्य को हृदय अथवा आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक कार्य में देखना अधिक उचित एवं श्रेयस्कर समझता है।

६—विदेश में प्रगतिशील कविता का जीवन के प्रति दृष्टिकोण मूलतः बौद्धिक माना गया है और वास्तव में यह उसकी अनिवार्य विशेषता भी है। परन्तु भारतवर्ष में अभी उसने निश्चित रूप से वह दृष्टि-कोण नहीं अपनाया। अभी प्रगतिशील कहे जाने वाले कुछ कवियों में भाव-प्रवणता का प्राचुर्य पाया जाता है। इसीलिए हिन्दी की प्रगति-कविता में उसे फिलहाल अनिवार्य नहीं माना जा सकता।

७—अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति में परिवर्तन अनिवार्य है। जब विचार के उपकरण बदल गए तो अभिव्यञ्जना के उपकरण भी बदल जाने चाहिये। सबसे पूर्व तो कला के दृष्टि-कोण में ही नवीनता आई—'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण'—अतः दृष्टिकोण में यथार्थ-दर्शन की भावना आई। उपकरणों की लघुता और महत्ता का काल्पनिक अन्तर मिट गया। 'धूलि, सुरभि मधु-रस, हिमकण' को छोड़ आज का कलाकार

> सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
> फीतों के टुकड़े तस्वीरें नीली पीली।

की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि आज के जीवन में वे अधिक

सत्य है। वस्तु-दर्शन से रोमांस चला गया। वस्तु का शुद्ध वास्तविक (Objective) चित्रण ही सच्चा है, कवि को अपनी भावनाओं का रंग चढ़ा कर उसको विकृत कर देने का कोई अधिकार नहीं। गत युग का दृष्टि-कोण था रोमांटिक। रोमांटिक दृष्टिकोण में वस्तु पर द्रष्टा की भावना का रंग चढ़ जाता है, अतः उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होने पाता। आज का मूलदर्शी कलाकार इसे बुर्जुवा आर्ट कहता है। दूसरे आज मूल्यांकन भिन्न हो जाने से, सौन्दर्य्य का आदर्श बदल गया है। पुराना वासना-युक्त सौन्दर्य्य आज बासी हो गया है। आज तो जो प्रत्यक्ष है, जीवन-प्रद है वही सुन्दर है।—एक शब्द में कला के उपकरण आज विलास, रूप, रंग, रोमांस और गरिमा नहीं रह गये। प्रगतिवादी पुरानी सौन्दर्य्य-कल्पनाओं को छोड़ वस्तु जगत की सत्यता को अपनाता है।

८—अब अनुभूति के माध्यम—भाषा और टेकनीक पर एक दृष्टि-पात कीजिए। जिस प्रकार काव्य के उपकरणों में विशेष चयन की गुञ्जायश नहीं रही, इसी प्रकार भाषा में भी वह नितांत अवाञ्छनीय है। "यह शब्द काव्योपयुक्त नहीं है"—यह विचार आज निर्मूल सिद्ध हो गया है। काव्य कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है, अतः उसकी शब्द-योजना किसी विशेष प्रकार की हो, यह बिल्कुल जरूरी नहीं। प्रगतिवादी कविता में भाषा और टेकनीक का सीधा-सच्चापन ही मुख्य है—माधुर्य्य ओज इत्यादि का उसके लिए कोई अर्थ नहीं।

इस प्रकार गत युद्ध के पश्चात् पश्चिम में जिन तीन प्रकार की कविताओं का जन्म हुआ : एक राष्ट्र-गीत, दूसरी अनमिल (odd) कविता, तीसरी समाजवादी कविता, इन तीनों का ही अन्तर्भाव हिन्दी के प्रगतिवाद में आज मिलता है। यह ठोक है अभी उसमें राष्ट्रीय भावना (आजादी) का ही प्राधान्य है। फ्रायड का प्रभाव

अभी कविता में नहीं आया। जैसा कि मैंने पहिले संकेत किया है प्रगति के कवियों में दो वर्ग मिलेंगे। (१) एक में राष्ट्रीय चेतना अधिक सजग है, (२) दूसरे में सैक्स। पहिले वर्ग की राष्ट्रीय चेतना में यद्यपि साम्यवाद की ही प्रमुखता है, परन्तु गान्धीनीति के अनुयायियों के लिए उसका मार्ग अभी तक बन्द नहीं है। इन पहिले वर्ग के कवियों में भी मनोस्थिति के अनुसार एक स्पष्ट विभाजन दिखाई देगा। (अ) कुछ आशावादी कवि 'पन्त' की भाँति निर्माण की ओर अधिक आकृष्ट हैं, उनकी विचार-धारा में संयम है, आशा है अतः शान्ति है। ये लोग आत्मा की ओर भी काफी झुके हुए हैं। इनमें अन्य नाम नरेन्द्र और अज्ञेय के हैं। इस वर्ग के (आ) दूसरे कवियों में निराशा है, अतः आग है, तूफान है, प्रलय का आह्वान है। भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन को साधारणतया इसी वर्ग में लिया जा सकता है। हरि-कृष्ण प्रेमी को बाद की कविताएँ भी इसी प्रकार की हैं। इन कवियों में पलायन के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। (२) प्रगति की दूसरी प्रतिक्रिया है अमूर्त उपासना के विरुद्ध। "अञ्चल ने छायावाद की मानवीय किन्तु अधिकांश अशरीर सौन्दर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा क्रान्ति की।" उनकी कविता में शरीर ने आत्मा के विरुद्ध विद्रोह किया है, और वासना का सारा रूप बेपरदा होकर निकल आया है। छायावाद के सांकेतिक रूप-चित्रण के स्थान पर उसने मांस के शरीर का अङ्कन किया है। उसके काव्य में यद्यपि राष्ट्रीय भावना का अभाव नहीं है, परन्तु सैक्स की चेतना ऊपर है।

प्रगतिवाद अभी जीवन की पहली मंजिल में है। उसे अभी अपनी वास्तविक स्थिति का भी ज्ञान नहीं है। अभी वह अधि-कांश में कुछ हलके सिद्धान्तों के (जिनमें जनता भाग कर निकलने वाली राष्ट्रीयता का बोझ वाला है) चक्कर में पड़ा हुआ है।

पन्त सन्तोषी कवि हैं—परन्तु सिद्धान्त ज्ञान पूर्ण होने पर भी उनका जन जीवन से सम्पर्क नहीं है। अतः उनकी पहुँच बौद्धिक है। 'युगवाणी' में तो सिद्धान्त की ही बात अधिक थी, हाँ 'ग्राम्या' में वे कुछ अपना सके हैं और इसी कारण इन कविताओं में युगवाणी की कविताओं की अपेक्षा प्राण भी अधिक है। फिर भी हमें पन्तजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास देखने के लिए अभी और प्रतीक्षा करनी है।

नरेन्द्र की पकड़ अच्छी है, परन्तु अभी उनको अपनी गीतिमयी प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करनी पड़ रही है। दिनकर के विस्फोट में बड़ी शक्ति है—'उनमें विद्युद्विध्वंस का प्रलय तरल लास्य है,' उधर अञ्चल के स्वरों में 'जाग्रत और प्रदीप्त आत्मि का विह्वल रोदन है'—यह सच है लेकिन अभी उन्हें अपने को पाना बाकी है, इसलिए उनके काव्य में विशेष कर अञ्चल के काव्य में 'चमत्कार' काफी है। नवीन और भगवतीचरण वर्मा इन कवियों में, वस्तु के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। सिद्धान्त-रूप से चाहे उनका गांधीनीति में विश्वास रखने के कारण, घोर प्रगतिवादी वर्ग से थोड़ा बहुत अन्तर हो, फिर भी उन्हें जो कुछ कहना है, वे उसे जानते हैं और महसूस करते हैं।

प्रगति की अपनी टेकनीक भी है, उसकी काव्य-सामग्री और भाषा के पीछे एक विशेष सिद्धान्त है। इस पर प्रयोग हो रहे हैं—प्रयोगों में पन्त, नरेन्द्र और भगवतीचरण को अच्छी सफलता मिली है, यद्यपि पन्त की सुकुमार रुचि उनका साथ यहाँ कठिनता से देती है। दिनकर, नवीन और अञ्चल की काव्य-सामग्री, भाषा और टेकनीक प्रगति के सिद्धान्तों से कम मेल खाती है, साथ ही उनका दृष्टिकोण बौद्धिक नहीं है—इसलिए यह आशंका हो सकती है कि उनको शायद आगे, प्रगति का स्वरूप स्थिर हो जाने पर, इस वर्ग से निकलना पड़े।

प्रभाव—प्रगति का प्रभाव तो अच्छा ही होना चाहिए। काव्य में जो एक प्रकार की स्थिरता या मानसिक उलझन आ रही थी, प्रगति ने उस पर आघात किया है। परन्तु अभी उसमें खुद में उबाल और वन्वास्ट अधिक है। उसका प्रभाव भी पड़ रहा है। आज कवि सम्मेलनों में किसान और मजदूरों के प्रति जिस झूठी भावुकता का प्रदर्शन किया जाता है वह प्रगति की ही कृपा का फल है। इससे अपने प्रति ईमानदारी की भारी क्षति हो रही है।

आज के प्राणवन्त कवियों में निराला छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी हैं। उनमें प्रारम्भ से ही छायावाद की नारी कला और प्रगति का पौरुष विद्यमान रहा है। युग के वात्याचक्र में यह कवि शक्ति स्तम्भ के समान सदैव अटल खड़ा रहा है। इससे कौन जाने कितने तूफान टकरा कर स्वयं विलीन हो गये। 'अनामिका' का कवि आज अपने जीवन के मध्याह्न को पार कर रहा है। उसका कोई अनुयायी नहीं है क्योंकि किसी में वह शक्ति और प्रतिभा नहीं। उसकी आत्मा उस तारे के सदृश है जो सबसे दूर स्थित रह कर अपना प्रकाश विकीर्ण करता है। His soul is like a star that dwells apart.

दूसरे कवि हैं सियारामशरण। यह कवि अपने में लीन, भीड़ से अलग, तपस्या में रत है। उसमें आत्मा की प्रमुखता है—अतः उसकी कविता में सात्विक भावना का प्राधान्य है। उसकी कृति 'बापू' शुद्ध श्रद्धा की सफलता है। कवि का अपना व्यक्तित्व उस श्रद्धा में घुल गया है। भौतिकता के इस युग में जिसमें मांस, वासना, अविश्वास, अविनय, और क्रान्ति का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है, इस साधु कवि की अन्तर्मुखी साधना एक विशेष महत्व रखती है। जीवन के निकट होते हुए भी यह कवि युग के अन्य सभी कवियों से बहुत दूर है।

इस युग का दूसरा प्रमुख वर्ग उन कवियों का है जो कविता को अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रगतिवादी की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध यह कवि अपना हृदय टटोलता है और मन के भार को हलका करने के लिए लिखता है। यह बात नहीं कि युग-जीवन की हलचल का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, यह असर व्यवधान में छन कर पड़ता है। देश में व्याप्त निराशा उसके मन के अन्धकार को और भी गाढ़ा कर देती है। इस कविता का मुख्य विषय है यौवन की विफलताएँ। यहाँ प्रारम्भ में जीवन को स्वप्नों से भरने की मस्ती, और उसकी अपूर्ति के कारण आत्म-विश्वास की हानि फिर पराजय की भावना और अन्त में समर्पण (Surrender) का विवश सुख यह सब गुंथा हुआ मिलेगा। इस प्रकार इस कविता में भाग्य-वाद का ग्लूम व्याप्त है। बच्चन इस वर्ग के अग्रणी हैं।

छायावाद का स्वर आज क्षीण पड़ गया है; प्रसाद की मृत्यु और पन्त के दिशान्तर-प्रयास से उसे बड़ा धक्का लगा है परन्तु उसके कला-मन्दिर में अभी एक अमर-मानवी बैठी हुई अर्चन-आराधन में रत है। मेरा तात्पर्य सुश्री महादेवी से है। गत वर्ष भले ही उसने केवल दो एक बार ही स्वर-संधान किया हो, परन्तु वीणा उसके हाथ में है और काव्य की सुधा के पिपासु (गरल के नहीं) उसकी ओर भक्ति और श्रद्धा से देखते रहेंगे। उनके गीतों में छायावाद की अप्रत्यक्ष के लिए जिज्ञासा, उस का रूप-वैभव, रंगीन कल्पना-सुख, एवं तरल कोमल संगीत सभी कुछ प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस प्रसंग में इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' उदयशंकर भट्ट की 'मानसी' आरसीप्रसाद का 'कलापी' और रामकुमार की स्फुट कविताएँ अनायास ही याद आ जाती हैं।

इसके अतिरिक्त द्विवेदी युग की इतिवृत्त कविता की साधना भी चल रही है। इस समय कविता का स्वरूप अधिकांश में

अतीत हो गया है, फिर भी कथा कहानी का मोह मानव न छोड़ सकेगा। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि मैथिलीशरण गुप्त को इस परम्परा को हम हल्दीघाटी जैसी रचनाओं में पाते हैं। यहाँ जीवन के भौतिक विवेचन हैं। उधर रीतिकाल का रस-स्रोत भी चाहे जितना भी गति-बद्ध एवं क्षीण क्यों न हो गया हो परन्तु सूखा नहीं है—आज भी बुन्देलखण्ड, मथुरा, कानपुर और बनारस के कवि-समाजों में कविता की धारा शृङ्गार और नीति के कूलों के बीच ही बहती है।

इस प्रकार सर्वांगीण दृष्टिपात करते हुए स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी कविता एक विशेष अनस्थिरता के आवर्त में हो कर गुजर रही है। उसमें आगे—जीवन की ओर—नवीनता की ओर बढ़ने की अभिलाषा है पर अभी शक्ति नहीं आई। वास्तव में अभी उसमें निश्चयात्मिका वृत्ति का अभाव है।



युगवाणी

संसार प्रगतिशील है—वह आगे बढ़ता है। पिछली बातें उसके लिए कुछ दिनों में पुरानी हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य जिन जीवनादर्शों का, जिन रीति-नीतियों का सृजन जीवन का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये करता है, कुछ दिन बाद भ्रम अथवा प्रमाद वश वे ही सर्पों की भाँति कुण्डली मार कर उसकी आत्मा के लिए रूढ़ि-शृङ्खलाएँ बन जाती हैं। विदेश में भौतिक जीवन की पूजा होने के कारण, वहां के आदर्श भौतिक संसार के रूपों की भाँति ही सदैव नये-पुराने होते रहते हैं। भारतवर्ष उचित या अनुचित रीति से शाश्वत-चिरन्तन पर अधिक आकृष्ट रहा है। अतएव वह पश्चिम की अपेक्षा कुछ मंथर है। परन्तु परिवर्तन तो विश्व का नियम है—उसकी संस्कृति-सभ्यता में भी परिवर्तन अनिवार्य था—हुआ। मुसलमानों की विलास-भावना और हिन्दुओं की धर्म-भीरुता दोनों से जिस दम्भमूलक, सत्य-भीरु संस्कृति का जन्म हुआ उसके रूढ़ि-पाश में भारतीय जीवन बहुत दिनों तक बन्दी रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में अंगरेजी शासन के संघर्ष से उसमें आत्म-चेतना का प्रादुर्भाव हुआ और 'भारत-दुर्दशा' की ओर लोगों की आँखें उठीं—जीवन ने विलास की शैया छोड़ अँगड़ाई ली परन्तु अभी दूसरी शृंखला में जो इससे कहीं दृढ़तर थी, लोच नहीं आया, जब तक कि स्वामी दयानन्द का क्रान्तिकारी वज्र-घोष सुनाई न दिया। भारत की जागृति के इतिहास में वह दिन अमर रहेगा। हमारी आत्मा को जकड़ कर बैठे हुए सर्प के मस्तक पर वह पहला प्रहार था। धीरे-धीरे उसके बन्धन से बुद्धि,

विवेक, सत्य, कर्म आदि जीवन के तत्व मुक्त हो कर सामने आने लगे। धर्म के जड़ीभूत अन्धकार में कम्पन हुआ। जीवन की वास्तविकता से आँख मिलाकर खड़े होने का साहस आया। तभी बापू का अवतार हुआ। उन्होंने युग-युग के कर्दम से परिवेष्टित मानवता के वास्तविक स्वरूप को पहिचाना और उसकी अमरता का मंत्र फूँका। परन्तु बापू रहे भारतीय ही—उन्होंने भी जीवन के अन्तर्तत्वों को ही पकड़ा—उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक ही रहा। देश का अग्रगामी दल कुछ और आगे दौड़ना चाहता था। पश्चिम के बढ़ते हुए यातायात ने उसे रूस के सोवियट-विधान की ओर आकृष्ट किया। हजारों मील दूर पर बैठे हुए दीन और दलित भारतवासी साम्यवाद के इस स्वर्ग को ललचायी आँखों से देखने लगे। दूर से उन्हें उसका हँसता हुआ वैभव ही दीख पड़ता था—उसके नीचे कितना धुआँ-अन्धकार है वह उनकी दृष्टि से बाहर ही रहा।

हिन्दी साहित्य इस बदलती हुई विचार-धारा से अस्पृष्ट कैसे रहता, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी रूप से उस पर इन भावनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। हिन्दी के एकान्त-प्रिय कोमल कवि पन्तजी को भी युग के सम्पर्क में आने की प्रेरणा हुई। प्रौढ़त्व की ओर बढ़ते हुए अध्ययनशील कवि ने स्वभावतः अपने चारों ओर देखने और समझने का प्रयत्न किया। परन्तु यह प्रेरणा पहले उसे अध्ययन से प्राप्त हुई। कवि पन्त की दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण है—उनका आवजर्वेशन पूर्ण होता है। परन्तु जैसा कि मैं कई स्थानों पर पहिले कह चुका हूँ वे जीवन-संघर्ष से दूर रहे हैं और अब भी दूर ही हैं। उन्होंने जीवन-नाटक को दर्शक की भाँति ही अधिक देखा है। अतः उनके इस युग के साथ-साथ चलने के प्रयत्न में अध्ययन की प्रेरणा भी स्पष्ट है। 'युगान्त' में कवि का दृष्टिकोण था मानववादी; उसको बापू की नीति में पूर्ण विश्वास था :

इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जगजीवन
बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन।

परन्तु आज देश की प्रगति के अनुसार उनकी सफलता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया है :

सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जगजीवन ?
आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?

इसलिए कवि ने बापू कविता को 'युगवाणी' में स्थान नहीं दिया। वह कविता तो मानो पाठक को युग में प्रविष्ट करा कर स्वयं अलग खड़ी हो जाती है।

'युगवाणी' एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है—भारतीय अर्थात् जिस रूप में उसे भारत का मस्तिष्क और हृदय समझ सका है। साम्यवाद अभी हमारी समझ से आगे नहीं बढ़ा—अभी जीवन की वस्तु नहीं बन सका, यह निर्विवाद है। अभी वह सुन्दर दर्शन मात्र है। 'युगवाणी' में प्रधानतः उसी के सिद्धान्तों का पद्यात्मक निबन्धन किया गया है। भारतीय साम्यवाद (?) का 'युगवाणी' में दो रूपों में ग्रहण है। एक ओर उसके मुख्य-मुख्य सभी सिद्धान्तों का विवेचन है, दूसरी ओर साम्यवाद के दृष्टिकोण का ग्रहण।

देश ने गत संस्कृति के बन्धन में जकड़ कर अनेक यातनाएं सहीं। अब उसे प्राचीन रूढ़ियों से निर्मुक्त होकर नवीन मांसल आदर्शों का निर्माण करना है :

मुकुटों के कुलाति, सामन्त महन्तों के वैभव-च्युत
मिला गये बहु राज-तन्त्र, सागर में ज्यों बुद्बुद कण।

प्राचीन संस्कृति का प्रतीक साम्राज्यवाद अपने समस्त साधनों के साथ आज मरणोन्मुख हो रहा है। उसके साथ पूंजी-

वाद निशा भी समाप्त होने को है। परन्तु अभी एक संघर्ष और है। साम्राज्यवाद अपने समस्त विप-वह्नि को एकत्र कर अन्तिम रण को उद्यत है। यह उसके विनाश का ही आयोजन मात्र है। बस अब शीघ्र ही—

जन-युग की स्वर्णिम-किरणों से होगी भू आलोकित।

यह युग स्वर्ण-युग होगा जब—

श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन !

भारतीय साम्यवादियों की भाँति अहिंसा में विश्वास रखता हुआ भी, कवि उन्हीं की तरह यह स्वीकार अवश्य करता है कि सन्धि-युग में हिंसा अनिवार्य है—

नहीं जानता युग-विवर्त में होगा कितना जन-क्षय
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।

इस जन-युग का विधाता होगा जन-समाज। जन-समाज में कृषकों से तो आशा करना व्यर्थ है—

कर्षक का उद्धार पुराय इच्छा है कल्पित
सामूहिक कृषि काय-कल्प अन्यथा कृषक मृत।

इसका कारण भी है—

विश्व विवर्तनशील अपरिवर्तित वह निश्चल।
वही खेत, गृह द्वार वही, वृष हँसिया औ हल।

इसीलिए यह युग अब श्रमीवर्ग की ओर देख रहा है। उसमें उसका अटल विश्वास है—

चिर पवित्र वह भय अन्याय घृणा से पालित
जीवन का शिल्पी पावन श्रम से प्रक्षालित।

वही लोक-क्रान्ति का अग्रदूत है, नव्य सभ्यता उसी के आश्रित है। इस युग-निर्माण के लिए आदर्श भी बदलने पड़ेंगे।

प्राचीन आदर्श जो गत संस्कृति के गरल के समान जन-जीवन में व्याप्त हैं, उन का उन्मूलन करना पड़ेगा। आज तो हमारी समस्या है जीवन—समष्टि का जीवन, व्यष्टि का नहीं। साहित्य अथवा कला उसीके समाधान का एक साधन है। यह युग ठोस मांस का युग है। जीवन की—भव-जीवन की समस्याएँ, रोटी-पानी का सवाल है—अच्छा खाना, अच्छा पहिनना यही इस युग में प्रधान है। 'सुन्दर हों जनवास वसन सुन्दर तन!' गत युग के 'हास अश्रु आशाऽकांक्षा' इस युग में आकर 'खाद्य, मधु पानी' बन गये हैं। आज का युग मानों कवियों का आह्वान कर स्पष्ट शब्दों में कह रहा हो—

> कहाँ खोजने जाते हो सुन्दरता औ आनन्द अपार ?
> इस मांसलता में है मूर्तित—अखिल भावनाओं का सार।

कवि का (युग का?) दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक होगया है या हो रहा है परन्तु संकीर्ण भौतिकता को जीवन के लिए वह अब भी घातक मानता है :

> मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम संवार कर चाम ?

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन शैली के परिवर्तन की ओर संकेत करता है—जिस प्रकार विचारों में भौतिकता और उपयोगिता का समावेश हुआ, इसी प्रकार शैली में भी एक प्रकार की मूर्तता और सीधापन आ गया। बात का महत्व है, बात कहने के ढंग का इतना नहीं—उसको संवारने का प्रयत्न निष्फल है। अतएव अलंकरण सामग्री नित्य प्रति के जीवन से ही ग्रहण करना उचित समझा गया। युगवाणी की अभिव्यञ्जना-शैली का यही व्याख्यान है। उसमें 'पल्लव', 'गुञ्जन' या 'ज्योत्स्ना' के चित्रों का रूप-वैभव (Luxury) नहीं रहा इस बात को और स्पष्ट समझने के लिये दो उदाहरण लीजिए। गंगा की साँझ का दृश्य है। एक चित्र 'गुञ्जन' का है दूसरा 'युगवाणी' का :

१ अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर,
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग।
किस गुहा नीड़ में रे किस मग,
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अञ्चल,
नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल। (गुञ्जन)

२ अभी गिरा रवि, ताम्र-कलश-सा,
गंगा के उस पार,
क्लांत पांथ जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार
भूरे जलदों से धूमिल नभ, विहग-छदों से बिखरे—
धेनु-त्वचा-से सिहर रहे, जल में रोओं से छितरे।
दूर, क्षितिज में चित्रित-सी उस तरु माला के ऊपर
उड़ती काली विहग-पाँति रेखा-सी लहरा सुन्दर।

(युगवाणी)

पहले में रूप और रंग का विलास है—स्वप्न है दूसरे में तथ्य का चित्रण। पहले पद का 'किरणों का रक्तोत्पल' दूसरे में 'ताम्र-कलश' बन गया है। 'गुञ्जन' का कोमल और स्वप्न 'युग-वाणी' में विहग-छद, धेनुत्वचा इत्यादि में परिणत हो गया है!

अभिव्यक्ति के माध्यम पर विचार करते हुए 'युगवाणी' के मुख-पृष्ठ पर लिखे हुए दो शब्द 'गीत गद्य' हमें आकृष्ट करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह युग गद्य का है। जीवन में अब कविता नहीं रही अथवा यों कहें कि जीवन से कविता का बहिष्कार किया जा रहा है। अतः साहित्य में भी कविता (रसात्मक वाक्य) के लिए अब गुञ्जायश शायद रहीं नहीं (??)। ऐसी दशा में 'युगवाणी' का माध्यम कविता न रह कर केवल गीत (गाया हुआ—Metrical) गद्य ही रह जाना चाहिए। फलतः 'युगवाणी' की भाषा में न 'गुञ्जन' का सा रेशमी-मार्दव है, न 'युगांत' की सी मांसल शक्ति, परन्तु इन गुणों के बदले उसमें एक अन्य विशेषता आ गयी है—वह है भावों के अनुकूल नपे-तुले शब्दों का प्रयोग (Accuracy)।

अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की वाहक है टेकनीक। अनुभूति आत्मा है, अभिव्यक्ति शरीर, भाषा वाणी और टेकनीक चाल-ढाल। 'युगवाणी' में कविता की टेकनीक में काफी नवीनता आ गई है। अंगरेज़ी साहित्य में आज कल टेकनीक पर नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। क्यूबिस्ट, इमेजिस्ट आदि कई नये स्कूल चल पड़े। 'युगवाणी' पर आधुनिक अंगरेज़ी कविता का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु 'युगवाणी' के कवि में एक विशेष गुण है जो अंग्रेज़ी के बहुत से कवियों में नहीं है—वह है उसकी गम्भीर-संयत प्रकृति। वह किसी बात को केवल वैचित्र्य के लिए दूर तक घसीटने का आदी नहीं है—वह किसी प्रकार की धुन में नहीं पड़ता। दूसरे उसकी जैसी सुरुचि कितनों में मिलेगी? इसलिए 'युगवाणी' की टेकनीक में नये प्रयोग सभी सार्थक हैं—उनके पीछे जिस रुचि की प्रेरणा है वह अनुपम है। हिन्दी काव्य की टेकनीक में प्रयोग यद्यपि कवि निराला ने अधिक किये हैं—परन्तु पन्त की दृष्टि भिन्न है। निराला की टेकनीक में

प्रतिभा का स्पर्श पन्त की अपेक्षा अधिक होता है, उधर पन्त के प्रयोगों में गंभीर मनन, एवं वर्षों की परिष्कृत शालीन रुचि का प्रभाव अनिवार्य होता है। युगवाणी की 'चींटी,' 'पुण्य प्रसू', 'ओस के प्रति' आदि कविताएं मेरे कथन का समर्थन करेंगी।

यह है 'युगवाणी' की अन्तरङ्ग व्याख्या। परन्तु 'युगवाणी' विचार, भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से हिन्दी काव्य के लिए सर्वथा नवीन है। अतः उसका मूल्याङ्कन करने के लिए स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। एक विचार-विषयक, दूसरा काव्य-विषयक। विचार-विषयक प्रश्न यह है कि 'युगवाणी' में गर्भित सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, उनकी उपादेयता भारत के लिए कितनी है और दूसरे वे भारत के इस युग की वाणी किस सीमा तक हैं। क्या भारतवर्ष के असंख्य जन-समाज की वाणी यही है? मैं इस प्रश्न को नीतिज्ञों के लिए छोड़े देता हूँ। इतना अवश्य है कि पन्त के विचारों में स्वच्छता है—वे स्पष्ट और सुव्यक्त हैं। साहित्य के विद्यार्थी का सम्बन्ध दूसरे प्रश्न से अधिक घनिष्ठ है। 'युगवाणी' का काव्य की दृष्टि से क्या मूल्य है? उसको काव्य कहना भी कहाँ तक उचित है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले एक और प्रश्न का समाधान आवश्यक है। क्या वास्तव में कविता को जान बूझ कर किन्हीं सिद्धान्त विशेष का वाहक बनाया जा सकता है—अर्थात् क्या कविता युग की ही सम्पत्ति है, युग-युग की नहीं? अथवा क्या काव्य की आत्मा भी प्रत्येक युग के साथ बदलती रहती है? जीवन प्रगति का ही पर्याय है। संसार में जो कुछ है वह आगे बढ़ने का ही प्रयत्न करता है—और तभी संसार का नाम जगत है। हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म सभी के आदर्शों में परिवर्तन होता रहा है। प्रत्येक युग की अपनी विशेष समस्याएँ होती हैं—अतः प्रत्येक युग, युग-जीवन के आदर्शों को उन्हीं के अनुसार

बदलता रहता है। यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता रहता है। परन्तु। इस परिवर्तन—विवर्तन की सीमा है। संसार में जो कुछ है सभी परिवर्तनशील नहीं है। यदि ऐसा मान लेंगे तो सत्य कुछ भी न रह जायगा। सत्य चिरंतन है—शाश्वत है। युग-युग के परिवर्तन के पीछे जो ठोस आत्मा की तरह जम कर बैठा हुआ है जिस शक्ति-केन्द्र के कारण जगत के परिवर्तित दृश्य बिखर कर अस्त व्यस्त नहीं होने पाते—वही शाश्वत है। इसी सत्य के सहारे से जीवन का प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में परिचालन हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति चाहे पूर्व पश्चिम के समान भिन्न रही हो। परन्तु अनुभूति में कोई तात्विक भेद नहीं रहा। इसीलिए जीवन के सूक्ष्म सिद्धान्त जिनका जीने से सम्बन्ध है—देशकाल के बन्धन को अस्वीकार करते हुए सदैव और सर्वत्र एक से रहे हैं। मानव की मानवता शाश्वत है, उसकी व्याख्या चाहे कोई किसी प्रकार ले। कला जीवन की अभिव्यक्ति ही तो है न, और जीवन में जो आनन्द का अंश है, कला का उसी से सीधा सम्बन्ध है। इसी कारण उसमें रस का अन्तर्भाव अनिवार्य है—'दिक्कालावच्छिन्न' है—रसो वै सः। वह कला की—कविता की आत्मा है। उसके आवरण, उपकरण चाहे कितने ही बदलते रहें परन्तु आत्मा नहीं बदल सकती। 'मा निषाद प्रतिष्ठात्वं....' से लेकर :

'आए तुम मुक्त पुरुष कहने
मिथ्या जड़ बंधन सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं मा भैः।
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम्।'

(युगान्त)

तक जब उसमें परिवर्तन नहीं हुआ, तो आगे हो जायगा ऐसा एक साथ कैसे कह दें। अतः क्या यह निर्विवाद नहीं है कि किसी भी रचना को काव्य बनने के लिये रस-मय होना पड़ेगा?

बिना इसके चाहे वह कविता से भी कोई ऊँची चीज हो जाए, परन्तु कविता न हो सकेगी। और रस का संचार तभी हो सकेगा जब कवि अपनी कृति में अपने जीवन को उँडेल दे। उधर श्रोता या पाठक को रस अथवा आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है जब उसकी अन्तर्वृत्तियों में सामञ्जस्य (harmony) स्थापित हो जाए। जब तक अन्तर्वृत्तियों का समन्वय न होगा तब तक आनन्द की उपलब्धि असम्भव है—कौतूहल, विस्मय कितना ही हो जाए। हम को वही नवीनता आनन्द-प्रद होती है जो हमारी वृत्तियों में असामञ्जस्य उत्पन्न न कर दे।

My love you are greater than the frog

(प्रिये, तुम मैंढक से भी महान् हो) में यही बात है। यह उक्ति किसी सहृदय को आनन्द नहीं दे सकती।

'युगवाणी' को इसी कसौटी पर कसना है। कौन अस्वीकार करेगा कि 'युगवाणी' में आधुनिक जीवन के कुछ सिद्धांतों की सुन्दर व्याख्या है? कौन मना करेगा कि वे सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त और भव्य हैं? परन्तु इन कविताओं में रस नहीं है—और इनका स्वभाविक कारण केवल यही है कि नक्षत्रवासी पन्त उस जीवन से दूर हैं, उन्होंने इन सिद्धान्तों को पढ़ कर और सोच कर पाया है; सह कर और भोग कर नहीं। इसलिए वे उनमें जीवन नहीं उँडेल सके। ये कविताएँ अधिकांश ठन्डी हैं—उनमें जीवन की चिनगारी नहीं है।

परन्तु फिर भी पन्त का विद्यार्थी इन कविताओं को देख कर निराश नहीं होगा क्योंकि उसने पन्तजी की कविता के वर्धमान चिंतन और संगम के विकास का अध्ययन किया है—उसके लिए युगवाणी का गीत-गान एक साथ नहीं आ टपका। वह इसके लिए तैयार था। लेकिन पन्त कवि हैं—कविता उसका जन्म-जात अधिकार है, और युगवाणी' के गद्य में भी कविता के रेशमी धागे अलग चमक जाते हैं।

नीचे के उद्धरणों में हृदय की प्रेरणा स्पष्ट है—

(१) जड़ वृन्त मूल! उड़ती होतीं
तुम तितली-सी सुख से उन्मुख,
पृथ्वी के हों ये डाल पात,
पर पार्थिव नहीं तुम्हारा सुख! (कैलिफ़ोर्नियाँ पॉपी)

(२) हे कुरूप, हे कुत्सित प्राकृत,
हे सुन्दर, हे संस्कृत, सस्मित
आओ जग-जीवन परिणय में
परिचित-से मिल बाँह भरो। (आवाहन)

(३) सच है, जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार,
वर्ण-गन्धमय कलि-कुसुमों का
पर ऐश्वर्य अपार। (रूपसत्य)

कहीं-कहीं भाव अत्यन्त कोमल एवं सूक्ष्म हो गए हैं—

(१) पुरुषों की ही आँखों से निज भेद देख अपना मन,
पुरुषों ही के भावों से [illegible],
जो अपनी ही चितवन से वह हो उठती है लज्जित,
अपने ही भीतर छिप-छिप जग से होगई तिरोहित। (नारी)

(२) सुन्दरता से अनिमिष चितवन
छू कोमल मर्मस्थल
मूक सत्व के भेद सकल
कह देती, (खुल दल पर दल)—
सहज समझ लेता मन! (सुमन के प्रति)

(३) सर् सर् मर् मर्
रेशमी के-से स्वर भर! (नीम)

'युगवाणी' के चित्रों में अजीब बारीकी है;

नील निरभ्र गगन पर—
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुखकर।

(दूर टीले पर खड़े वृक्ष)

निम्न भावगम्य चित्र की रेखाएँ कितनी पुष्ट हैं—

भय का दे पाथेय प्रकृति ने
भेजा मनुज अपरिचित वन में।

इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक कविताओं में भी कुछ स्केच बड़े अच्छे और सच्चे हैं—

१— मध्य-युग का मानव वह परिजन-पत्नी-प्रिय।

(मध्यवर्ग)

२— वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी वृष-बाँधव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर-रक्षक।

(कृषक)

आशा है पन्तजी की कविताओं में शीघ्र ही मांस का समावेश हो जाएगा और उनके प्रेमी पाठकों को संशय से मुक्त होने का अवसर मिलेगा।



ग्राम्या

युगवाणी प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्त-वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग। युगवाणी में पन्तजी अपने नवीन सिद्धान्तों की रूप-रेखा निश्चित कर रहे थे। सिद्धान्त अमूर्त होते हैं, इसलिए युगवाणी में रस से पुष्ट मांस नहीं है। ग्राम्या तक वे सिद्धान्त स्थिर कर चुके और अब उन्होंने उसके प्रयोग के लिए एक मूर्त आधार चुन लिया। स्वभावतः ग्राम्या की स्नायुओं में कवित्व का गाढ़ा रस प्रवहमान है। उसके अङ्ग भरे हुए और यौवन-पीन हैं:—

> है मांस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
> संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज।
> कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
> उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।

यह मानों ग्राम्या की भावमयी व्याख्या है। छायावादी पन्त में (छायावाद में ही) भाव-कल्पित मनोज की उपासना थी। आज प्रौढ़ता की ओर बढ़ते हुए उनके काव्य में किस प्रकार रङ्गीन कल्पना-चुम्बित भावुकता के स्थान पर एक स्वस्थ पौरुष-मय भावुकता का समावेश हो रहा है—यही संकेत हम ऊपर की पंक्तियों से ग्रहण कर सकते हैं।

ग्राम्या में कवि-दृष्टि

प्रगतिवाद का आलम्बन है (माफ कीजिए यह शब्द कुछ पुराना है) जन-जीवन, और भारत के जन-जीवन का केन्द्र है ग्राम, अतएव पन्तजी का आज के राजनीतिज्ञों की भाँति ग्राम

की ओर जाना स्वाभाविक ही है। पन्तजी का ग्राम दर्शन जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, बौद्धिक सहानुभूति के आश्रित है, ग्राम-जीवन का निरीक्षण और आलोचन है, निमग्नता नहीं है। ग्राम-जीवन में मिल कर उसके भीतर से ये कविताएँ नहीं लिखी गईं; इसका कारण पन्तजी के शब्दों में है: 'ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।' यह बात कुछ हद तक ठीक है, परन्तु उस का दूसरा पहलू भी है। हम पूछते हैं कि क्या वैसा करना (ग्राम-जीवन में मिल कर उसके भीतर से कविता लिखना) पन्तजी के लिए सहज सम्भव है? इसका उत्तर पन्तजी अथवा उनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला कोई अन्य आलोचक न जाने क्या दे, परन्तु हमारी विनम्र धारणा है कि पन्तजी के लिए यह सम्भव नहीं है, बौद्धिक सहानुभूति—जो आलोचनात्मक निरीक्षण पर अवलम्बित है—से आगे पन्तजी जा नहीं सकते। युगवाणी में 'नक्षत्र' लोक के दैवी एकांतवास (God like solitude) से उन्होंने जन-जीवन को देखा था, ग्राम्या में वे नीचे उतर कर कुछ पास खड़े हुए उसका दर्शक की भाँति निरीक्षण और मनन कर रहे हैं। परन्तु अब भी पन्तजी दर्शक ही हैं, अन्तर इतना है कि पहले वे अपनी कोमलता से दबे हुए जीवन के सौन्दर्य को देखते थे, अब उनकी दृष्टि स्थिर होकर भीषणता और कुरूपता को भी आग्रह-पूर्वक देखती है। पन्तजी की दृष्टि में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ।

दृष्टि परीक्षा

यद्यपि मैं काव्य के मूल्याङ्कन में इस प्रकार की परीक्षा को कोई विशेष महत्व नहीं देता, फिर भी चलते-चलते यह देखना कि पन्तजी का ग्राम दर्शन कैसा है, असङ्गत न होगा। ग्राम्या में कवि ने ग्राम के समस्त रूप को, वहाँ के नर-नारी को, नित्य-

ग्राम के जीवन को, उसकी संस्कृति को, व्यष्टि रूप में नहीं समष्टि रूप में देखा है। ग्राम, ग्राम कवि, ग्राम-दृष्टि, ग्राम-चित्र आदि कविताओं में ग्राम का अखण्ड चित्र अङ्कित किया गया है। इनमें ग्राम को सम्पूर्ण रूप में देखा गया है। कवि ग्रामों की दैन्य-जर्जर अवस्था को देख कर दुःखी होता है। वह देखता है कि—

> ज्ञान नहीं है, तर्क नहीं है, कला न भाव विवेचन,
> जन हैं, जग है, क्षुधा, काम, इच्छाएँ, जीवन साधन।
>
> × × ×
>
> रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बन्धन,
> नियत कर्म हैं, नियत कर्म-फल, — जीवन-चक्र सनातन।

परन्तु फिर भी उनका दृढ़ विश्वास है कि—

> मनुष्यत्व के मूलतत्व ग्रामों में ही अन्तर्हित,
> उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।

दूसरे चित्र व्यक्तियों के हैं, वे वैशिष्ट्य-हीन, टाइप हैं, व्यक्ति के सुख दुःख साधारण ग्राम-जन के सुख-दुःख हैं। ग्राम युवती, ग्राम-नारी, कठपुतले, गाँव के लड़के, वह बुड्ढा, ग्राम वधू, वे आँखें, मजदूरनी आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। कुछ कविताएँ साधारण ग्राम्य-जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच, कहारों का रुद्र नृत्य, नहान इत्यादि, और कुछ में ग्राम-संस्कृति का विवेचन है, उदाहरण के लिए ग्राम-देवता, भारत-ग्राम को लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त ग्राम-श्री की प्राकृतिक छटा भी दर्शनीय है। इन कविताओं में पन्तजी की दृष्टि का विश्लेषण करने पर हमें उसके अन्दर निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म तथा आलोचना प्रौढ़ एवं विवेक-पुष्ट मिलेगा और इन दोनों से भीगे पट की तरह लिपटी हुई मिलेगी एक करुण सहानुभूति। पहले निरीक्षण की बानगी देखिए—

किस महारात्रि तम में निद्रित,
ये प्रेत स्वप्नवत संचालित,
किस मोह मन्त्र से रे कीलित,
ये दैन्य-दग्ध जग के पीड़ित।

इन पंक्तियों में ग्रामीणों की रूढ़ि-परिचालित शिथिल जीवन-गति की ओर सूक्ष्म संकेत है। आलोचन में—जहाँ तक विश्लेषण का सम्बन्ध है वहाँ तक पन्तजी अद्वितीय हैं, परन्तु समन्वय उनका उतना प्रौढ़ नहीं है। वे अन्तर्तत्वों को पृथक जिस बारीकी से कर सके हैं उनको अन्वित उतनी सफाई से नहीं कर पाये। सहानुभूति, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, उनकी बौद्धिक है। बौद्धिक सहानुभूति का अर्थ यह है कि उसमें कवि भावमग्न नहीं होता, वह दोनों पहलुओं का संतुलित विवेचन करता हुआ—दोषों के प्रति भी सतर्क रह कर अपने आलोच्य की कल्याण-कामना करता है। यह सहानुभूति प्रेमी मित्र की सहज मधुर सहानुभूति नहीं है। आलोचक अथवा शिक्षक की मीठी-कड़वी सहानुभूति है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हार्दिकता एक दम बहिष्कृत है। ग्राम्या की पंक्तियों में भाव की कोमलता और अनेक स्थलों पर, सहज उल्लास और विषाद का अभाव नहीं है :

१—आता मौन प्रभात अकेला सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दो-पहरी में स्वप्नों की छाया-सी।

२—वह मग में रुक,
मानो कुछ झुक,
आँचल सम्हालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट;
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक

जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित,
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट।

२—तुमने निज तन की तुच्छ कञ्चुकी को उतार।
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये ग्राम-चित्र एक चतुर चितेरे के द्वारा अंकित किये गये हैं। पन्तजी की सूक्ष्म दृष्टि ने सूक्ष्म तत्वों को काफी गहरे में जाकर पकड़ा है और प्रौढ़ बुद्धि ने उनकी विवेचना करके स्वच्छ रूप में उपस्थित किया है। परन्तु द्रष्टा और दृश्य के बीच एक विशेष अन्तर सदैव बना रहा है यह अन्तर शारीरिक ही नहीं मानसिक भी है—(ज्ञान का, संस्कृति-शिष्टता का और, क्षमा करें, वर्ग का भी) उसमें एक दया—कुछ नीचे उतरने का भाव विद्यमान है।

इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय आता पसीज।

इस प्रसंग में हमें भारत के प्रसिद्ध समाजवादी नेता श्री सम्पूर्णानन्द के शब्द याद आते हैं "....पर यही दोष उस साहित्य में भी है और होगा जिसकी सृष्टि मध्यवर्ग के कृत्रिम वातावरण में होगी। यह वर्ग जनता, सच्ची जनता से बहुत दूर है....दो चार दिन किसी गाँव में बैठ कर ग्रामीण जीवन पर रचना करना, उसकी दयनीयता दिखलाना, उसकी हँसी उड़ाना है। दया भिक्षा के टुकड़ों से ही तो धनिक वर्ग और उसके पीछे पूँछ हिलाने वाला मध्य वर्ग दलितों, शोषितों, पीड़ितों को धोखा देना चाहता है। यदि आप उनके साथ सहानुभूति नहीं कर सकते तो उन पर दया दिखला कर उनका अपमान मत कीजिए। आपको दयाशीलता का यश मिलता है पर आप पाप के भागी बनते हैं!"

अतएव ग्राम्या में हमें परिचय की तात्कालिक घनिष्ठता तो मिल जाती है परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। ग्राम्य जीवन के व्याख्याता के लिए एक सुदीर्घ परिचय की आवश्यकता है और पन्तजी की ग्राम्य-परम्परा से कोई विशेष घनिष्ठता नहीं है। इन्होंने तो जैसे नोटबुक और पेन्सिल की सहायता से उसका अध्ययन किया है। इस कारण उनकी कविता में ग्राम्य जीवन विषयक त्रुटियों की कमी नहीं है। अनेक चित्रों में अतिरञ्जना और एकाङ्गिता आ गयी है। अतः हमें उनके ग्राम दर्शन को उसकी सीमा और शक्ति दोनों के साथ देखना चाहिये। एक ओर हम सुनते हैं—रही डिब्बे में बैठकर पति से हँस कर बात करने की अवस्था, जहाँ तक सम्भव होता है गाँवों में पति पत्नी को देने बहुत कम जाता है।……यदि वह गया भी तो कोई न कोई साथ में रहता है और कोई नहीं तो नाई ही सही……।' दूसरी ओर, 'यह कदाचित् अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विश्व-साहित्य में आज तक किसी कवि ने ग्राम्य जीवन का प्रगतिशील दृष्टिकोण से इतना विशद इतना मार्मिक चित्रण नहीं किया—स्वयं वर्ड्सवर्थ ने भी नहीं।"

इनमें पहला निरर्थक है, दूसरा अत्युक्तिपूर्ण। वैसे भी वर्ड्सवर्थ का उदाहरण ग्राम्य जीवन के प्रसंग में अधिक उपयुक्त नहीं। बर्न्स से तुलना कीजिए, अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

पन्तजी का प्रकृत रूप

हम ऊपर निवेदन कर आये हैं कि पन्तजी मूल रूप में सौन्दर्य-द्रष्टा हैं। उनके दृष्टिकोण में बौद्धिक विकास हुआ है, बाह्य उपकरण बदल गये हैं। परन्तु उनकी आत्मा ज्यों-की-त्यों है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे पन्तजी बुद्धि द्वारा गृहीत सत्यों को जीवन में प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हों और उनका स्वभाव जैसे प्रायः उनसे ऊब कर संस्कारों की ओर भाग उठता हो।

इस प्रकार आज उनके स्वभाव और सिद्धान्त में विरोध चल रहा है, यह उनकी कृतियों को पढ़ कर आप फौरन ताड़ सकते हैं। पिछली बार मैंने पन्तजी से एक शंका की थी कि आपका Temparament (स्वभाव) आपकी प्रगति में साथ नहीं दे रहा—क्या यह सत्य नहीं है? इसका उत्तर उन्होंने मुझे यह दिया था—

Temperament is that which can be tempered अर्थात् स्वभाव को गढ़ा जा सकता है। सचमुच आजकल पन्तजी जैसे अपने स्वभाव को गढ़ने में लगे हों और वह बार-बार संस्कार की ओर प्रतिवर्तन करता हो—

> कहीं कहीं जी करता मैं जाकर छिप जाऊं।
> मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊं॥
> प्रकृति-नीड़ में व्योम-खगों के गाने गाऊं।
> अपने चिर-स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊं॥

कारण यह है कि पन्तजी के स्वभाव और सिद्धान्तों के बीच एक बड़ी खाई है जिसको बुद्धि के द्वारा वे भरने का प्रयत्न कर रहे हैं—और शायद काफी भर चुके हों, परन्तु उनके मन की सहज गति उधर नहीं है। उनके स्वभाव की सौन्दर्य-प्रियता जो जीवन के एकान्त में मनन और चिन्तन के द्वारा पोषित होती रही, अब भी उनकी दृष्टि में घुली मिली है, उनकी दृष्टि अब ग्रामीण आसानी से नहीं हो सकती। अतएव आज भी 'स्थूल' अथवा 'प्राकृत-कुत्सित' का निरीक्षण करती हुई वह प्रायः सूक्ष्म-कोमल पर ही टिकती है। ग्राम्य वातावरण में भी वह सूक्ष्म-कोमल को ही पकड़ती है—

१—अरहर सनई की सोने की,
  किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
२—जो हरित धरा से झाँक रही,

नीलम की कलि तीसी नीली।

३—मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम,
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त,
निज शोभा से हरता जन मन।

'संध्या के बाद' जैसी प्रगतिशील कविताओं में भी आपको चयन की वही सूक्ष्मता मिलेगी।

गाली की मँडई से उठ-के-नभ-नीचे-नभ-सी धूमाली।
मन्द पवन में तिरती जैसे रेशम की सी हलकी जाली॥

गंगा, स्वीटपी, याद, गुलदावदी, नक्षत्र आदि कविताओं की बात ही दूसरी रही, उनके तो विषय ही सुन्दर हैं। इनमें चित्रण और भावुकता की सूक्ष्मता ने मिलकर जो कवित्व की जाली काढ़ी है वह सहज मनोरम है। चित्रण की दृष्टि से गंगा, सन्ध्या के बाद, आदि कवितायें पल्लव, गुञ्जन और युगान्त की कविताओं को मात करती हैं। याद, नक्षत्र और रेखाचित्र की पंक्तियों में कवि की व्यक्तिगत भावना के मधुर करुण स्पर्श हैं—

नव आसाढ़ की सन्ध्या में मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भावों से विह्वल,
एक मधुरतम स्मृति पल भर विद्युत-सी जलकर उज्ज्वल,
याद दिलाती मुझे हृदय में रहती जो तुम निश्चल।

अथवा

सब से ऊपर निर्जन नभ में, अपलक संध्या तारा,
नीरव औ, निस्संग, खोजता-सा कुछ, चिर-पथ-हारा।
साँझ—नदी का सूना तट, मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन साथी, स्नेह, सहारा।

गुलदावदी कवि की प्रकृति विषयक अनुभूति (Sensitiveness) का अत्यन्त व्यक्त एवं मूर्त अङ्कन है—

मृदु न दलों के अंग जाल में फूट त्वचा-कोमल सुख
सहृदय मानवीय स्पर्शों से हर लेता मन का दुख।

पन्तजी किस प्रकार प्रकृति में जीवन का रस लेते हैं इसके साक्षी 'त्वचा-कोमल सुख' और 'मानवीय-स्पर्श'—ये दो वाक्यांश हैं।

यही बात भावों के क्षेत्र में भी है। भाव का वह अनगढ़ रूप (rawness) जो ग्राम्य जीवन के चित्रण में अपेक्षित है—ग्राम्या में प्रायः नहीं है—(चमारों का नाच एक अपवाद है) उसमें तो एक अतल स्पर्शिनी भावुकता मिलती है जो संस्कार की द्योतक है। 'वे आँखें' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

१— अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन,
२— भर लेती दर्शक को वह दुर्जेय, दया की भूखी चितवन।

अथवा

१— बैठ, टेक धरती पर माथा, वह सलाम करता है झुक कर
उस धरती से पाँव उठा लेने को जी करता है क्षण भर।
२— काली नारकीय छाया निज छोड़ गया वह मेरे भीतर।

(वह बुड्ढा)

ये उद्धरण एक दम रोमांटिक हैं—

पन्त जी के जीवन में जीवन का संघर्ष और उपभोग साधारण व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा कहीं कम रहा है और है। उनके जीवन में पलायन की प्रवृत्ति अन्य कवियों से अधिक है। उनका मानसिक अथवा बौद्धिक जीवन जितना सक्रिय रहा है, भौतिक जीवन उतना ही संघर्ष से दूर; आज भी उनके जीवन में कर्म की अपेक्षा विचार और चिंतन का ही प्राधान्य है, फलतः संघर्ष की ओर बौद्धिक आकर्षण रखते हुए भी वे उसमें रत होने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सके। ग्राम्या की अनेक कविताओं में पलायन के स्पष्ट संकेत हैं दिवास्वप्न तो इस मनोस्थिति

का दर्पण है। आज भी कवि 'नौका-विहार' करता हुआ सोचता है :—

यदि न डुबाता जग, रह कर चिरमृदुल तरलतर,
तो मैं आज छोड़ गङ्गा के गलित स्फटिक पर,
आज लोटता ज्योति-तड़ित लहरों रँग की भर!
किरणों से खेलता हिलोरों में लुक छिप कर
लहरों के अञ्चल में फेन पिरोता सुन्दर!

ये पंक्तियाँ हमें गुञ्जन की सदृश पंक्तियों का स्मरण दिलाती हैं—(जब हमारे पन्तजी सुनते हैं, एस्केपिस्ट थे)

सुनता हूँ इस निस्तल जल में,
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल माली।

इस प्रकार आप देखें कि पन्तजी के सौन्दर्यमुग्ध हृदय और प्रगतिकारी बुद्धि में एक द्वन्द्व चल रहा है—जीव की भौतिक दृष्टि को वे अभी नहीं अपना सके। अभी वे भौतिकता और आध्यात्मिकता में भी समझौता नहीं कर पाये। महात्माजी की बात वे कितने ही आग्रह से क्यों न कहें परन्तु सच तो यह है कि बापू और बापू के दर्शन के प्रति उनका मोह अभी छूटा नहीं है—

बापू! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन?

युगवाणी में सिद्धान्त-कथन अधिक होने के कारण यह द्वन्द्व कुछ अव्यक्त रहा, परन्तु ग्राम्या में आकर जहाँ [illegible] बन्धन ढीले हुए हैं, वह बहुत स्पष्ट हो गया [illegible] आवश्यकता नहीं कि जहाँ हृदय और संस्कार विजयी हुए हैं वहाँ

पन्तजी कवि रूप में सफल हुए हैं और जहाँ बौद्धिक विवेचन एवं सिद्धान्त का ज़ोर रहा है वहाँ कविता गद्यमयी हो गई है।

आलोचनात्मक कविता और बौद्धिक रस

हृदय और बुद्धि का यह द्वन्द्व कवित्व और आलोचना के द्वन्द्व में व्यक्त होता है। और इस प्रकार आलोचनात्मक कविता का जन्म होता है। विदेश में कविता का यह रूप चौसर के समय से ही उपलब्ध है, परन्तु हिन्दी में अभी नवीन ही है। इसमें एक प्रकार का बौद्धिक रस मिलता है जो अपने शास्त्रीय रस से भिन्न है। ये कविताएँ कवि के मन से निःसृत होकर श्रोता के मन का स्पर्श नहीं करतीं। वे मस्तिष्क उद्भूत होकर मस्तिष्क को ही प्रसन्न करती हैं—इनमें चित्त नहीं मस्तिष्क चमत्कृत होता है। परिचित वस्तु को उसके सच्चे रूप में संतुलित दृष्टिकोण से देख कर हम खुश होते हैं। इनमें कवि वस्तु में तन्मय नहीं होता वह अपना व्यक्तित्व पृथक रखता है और पाठक उसे पढ़ कर मन में कह उठता है, "हाँ ठीक है—यही मैं भी सोचता था।" इसी को आचार्यों ने अभिज्ञान का आनन्द (pleasure of recognition) कहा है। एक उदाहरण लीजिए—

सदाचार की सीमा उसके मन से है निर्धारित
भूत-योनि वह, मृत्यु चर्म पर केवल उसका अंकित।

इन पंक्तियों को पढ़ कर आप रस-मग्न नहीं होते, उनमें मन को स्पर्श करने की शक्ति नहीं है, पर जैसे कोई बात जो कई बार आपके मन में उठती हो एक साथ आपको इतने स्पष्ट शब्दों में मिल गयी और आप अपना समर्थन पाकर प्रसन्न हो उठे, ऐसा ही कुछ इन कविताओं का बौद्धिक आनन्द है।

हास्य और व्यंग्य

आलोचना का सब से समर्थ साधन है हास्य और व्यंग्य

(Humour and irony) विशेषकर आलोचनात्मक कविता का, जिसमें शक्ति बहुत कुछ उक्ति-संकेत पर निर्भर है। अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि चौसर, पोप, चैस्टरटन आदि जिन्होंने इस प्रकार की कविता लिखी है (मैं केवल शैली की बात कर रहा हूँ) हास्य और व्यंग्य के आचार्य थे। हमें खुशी है कि ग्राम्या में पन्त की काव्य-शैली अपने जीवन-काल में पहली बार इन दो गुणों से विभूषित हुई है। वैसे पन्तजी के पास ये दोनों शस्त्र थे अवश्य (पल्लव की भूमिका इसकी साक्षी है) परन्तु सौन्दर्य के चिन्तन और मनन में हास्य अथवा व्यंग्य के लिए स्थान ही नहीं था। ग्राम्या में जीवन की सीधी आलोचना करते हुए मंत्र-सिद्ध शास्त्रों की भाँति वे उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गये। 'ग्रामवधू' परिष्कृत हास्य का उदाहरण है; पन्तजी की सूक्ष्म दृष्टि हास्य को उद्बुद्ध करने में बहुत सहायक हुई है और हमें हिन्दी कविता में बड़ी मुश्किल से ऐसा सूक्ष्म संकेतात्मक हास्य मिल सकता है—

लो अब गाड़ी चल दी भर-भर
बतलाती धनि पति से हँस कर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी नर—
जाती ग्राम वधू पति के घर!

परन्तु ग्राम्या का वातावरण हास्य की अपेक्षा व्यंग्य (irony) के अधिक अनुकूल है—क्योंकि हास्य का सौन्दर्य है उसकी निर्मलता एवं निरुद्देश्यता जो प्रगति की कविता में सहज सम्भव नहीं। एक ओर कवि के मन में दुःख की मलिनता है, दूसरी ओर उसकी कृति के पीछे एक उद्देश्य है—अतएव व्यंग्योक्ति ही जो क्रोध और करुणा की सान पर चढ़ कर और भी नुकीली हो जाती है उसके ज्यादा काम आयी है। पन्त का व्यंग्य-बाण शत्रु और मित्र दोनों पर ही पड़ता है। पहले में क्रोध के विष में बुझ कर, दूसरे में करुणा की टीस लेकर—

वह वर्ग-नारियों-सी न मुग्ध, संस्कृत, कृत्रिम
रञ्जित कपोल, भ्रू, अधर, अङ्ग सुरभित वपित।

अथवा 'संध्या के बाद' में लाला सोच रहे थे—

दरिद्रता पापों की जननी,
मिटें जनों के पाप, ताप, भय,
सुन्दर हों अधिवास, वसन, तन,
पशु पर फिर मानव की हो जय!
व्यक्ति नहीं, जग की परिपाटी
दोषी जन के दुःख क्लेश की,
जन का श्रम जन में बँट जाये,
प्रजा सुखी हो देश-देश की!

पर— टूट गया वह स्वप्न वणिक का
आई जब बुढ़िया बेचारी
आधपाव आटा लेने;—
लो, लाला ने फिर डन्डी मारी!

अब एक व्यंग्योक्ति मित्र पर देखिए—

घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पतिघातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने
डूब कुएँ में मरी एक दिन!
खैर पैर की जूती जोरू,
न सही एक दूसरी आती,
पर जवान बेटे की सुधि कर,
साँप लोटते, फटती छाती।

भाषा

पन्त की काव्य-भाषा के इतिहास में ग्राम्या का प्रकाशन एक घटना है। युगवाणी से पूर्व तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता

था, इनकी भाषा भावों के अनुकूल सूक्ष्म-कोमल, जड़ी हुई और कढ़ी हुई थी। 'युगवाणी' में कवि ने अपने काव्य के रूप को बदलने का भी प्रयत्न किया परन्तु वे यह चिकिन साड़ी उसके ऊपर से नहीं उतार सके, अतएव गाँव के लोग उनकी बात न समझ कर उन्हें गुमराह कहने लगे। बात कुछ ठीक भी थी—जन-साहित्य की भाषा इतनी एरिस्टोक्रेटिक हो यह अनुचित था। अब पन्तजी ने 'ग्राम्या' में आकर अपनी जन कविताओं को एक सादा-सी साफ़ धोती पहना दी—(यद्यपि गजी का लहँगा अभी नहीं पहना सके)। ग्राम्या की भाषा बहुत काफ़ी नीचे उतर आयी है विशेष कर उन स्थलों पर जहाँ कवि स्वयं विवेचन करता हुआ पात्र की ओर से बोलता है, अथवा ग्राम-वातावरण की सृष्टि करता है।

१—

मां कहती रखना सँभाल घर,
मौसी, धनि खाना गोदी भर-
सखियाँ;—आना हमें मत बिसर,
जाती ग्राम-वधू पति के घर।

२—

घमासान हो रहा है समर,
उसे बुलाने आये अफ़सर,
बोला फट कर आँख उघाड़े;
छिपा हुआ वह उसे बड़ी डर।

परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि ऐसे स्थलों पर कवि अल्प-परिचय अथवा चयन-रुचि के कारण भाषा-विषयक त्रुटि कर बैठा है—

बिना दवा-दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली-आँखें आतीं भर

यहाँ गृहिनी और स्वरग प्रयोग चिन्त्य हैं—गाँव का आदमी गृहिनी को घरनी, 'गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी' और स्वरग को सुरग कहेगा। कदाचित पन्तजी के कान घरनी और

सुरुचि को बर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसी दशा में हम पूछ सकते हैं कि फिर जरूरत ही क्या थी? कुछ प्रसङ्गों में तो यह अवश्य प्रतीत होता है कि कवि इस नवीन शब्दावली का प्रयोग बड़ी सावधानी से डरते-डरते कर रहा है। परन्तु ऐसे उदाहरण अनेक नहीं हैं और प्रायः पन्तजी की भाषा इन शब्दों के साथ निर्द्वन्द्व होकर खुल-खेल उठी है। नीचे के उद्धरण 'अ' में उसका चाञ्चल्य और 'आ' में उसकी चौड़ी शक्ति दर्शनीय है :

(अ) खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली-सी उभर उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस-भरे कलश,
जल छलकाती
रस बरसाती
बल खाती वह घर को जाती
सिर पर घट
उर पर धर पट।

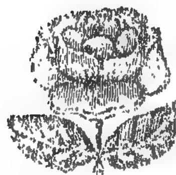
(आ) उसका लम्बा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी।
इस खँडहर में बिजली-सी,
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

इस प्रकार ग्राम्या में पन्त की कविता एक बार फिर जीवन से जगमग हो उठी है, उसको पढ़कर ऐसी धारणा होती है जैसे युगवाणी की प्रगतिवादी कविता पल्लव के रंगों से स्नान कर आयी हो। पन्तजी अब तक अपनी हलकी मधुरता के कारण मन को मुग्ध करते थे, ग्राम्या में थोड़ी कड़वाहट भी मिल गयी है, और उसका स्वर [illegible] हो गया है। अतएव उसमें जीवन की पकड़ सच्ची है [illegible] की शक्ति नहीं है। युगान्त से पूर्व उन्होंने जिस [illegible] का अनुकरण किया था वह पराग

से आकीर्ण था इसलिए उनकी कविता को लघु-लघु चरणों से चलते देख हमें सुख होता था—आज उन्होंने जन जीवन का बीहड़ पकड़ा है जिसमें अनेक खाड़-खड्ड और झाड़-झंखाड़ हैं अतः उस पर चलने के लिए चौड़े डगों की आवश्यकता है। इसमें सुन्दर की अपेक्षा महान् की उपासना श्रेयस्कर होगी। ग्राम्या में ऐसी कविताएँ विरल हैं—

१—ग्राम देवता। २—वह बुड्ढा। ३—ग्राम। ४—भारत-माता। ५—राष्ट्रगान।

इतने से हमारी मनस्तृप्ति नहीं होती। हम अभी कुछ और चाहते हैं।



विकास-सूत्र

पल्लव और गुञ्जन; युगवाणी और ग्राम्या—बीच में कितना विशाल अन्तराय है, परन्तु ध्यान से देखने पर अन्तर्सूत्र बड़ी सरलता से पकड़ा जा सकता है। युगान्त के उपरान्त युगवाणी, और उसके उपरान्त ग्राम्या एक क्रमिक विकास के ही मार्ग-चिह्न हैं। पन्त के कवित्व की प्रगति-रेखा चाहे टेढ़ी-मेढ़ी हो, परन्तु उनके विचार का विकास सीधा और स्पष्ट है।

पन्तजी का व्यक्तित्व असामान्य है, उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है—इतना कि वे जीवन के संघर्ष में जम कर खड़े नहीं हो सकते। उनका जीवन भर अविवाहित रहना, जीविका के प्रश्न की ओर से बहुत कुछ विमुख रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न बसना आदि बातें इसका पुष्ट प्रमाण हैं। पहले सुना करते थे—पन्तजी अपने आप टिकिट भी नहीं खरीद सकते। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही, साधारण व्यक्ति की दृष्टि में एक पलायन, एक एस्केप है, और यही पलायन-वृत्ति उनकी सौन्दर्य साधना की जननी है। जीवन का एकाकीपन इस साधना में और भी सहायक हुआ—अतएव वह निरन्तर एकान्त एवं अन्तर्मुखी होती गई। कवि को अपनी मधुरता से मोह होने लगा—वह अपने ही मधु में लिपटने लगा। यह जीवन-क्षय का लक्षण था, और पन्तजी को व्यक्त हो गया कि—

> तुम्हें तुम्हारा मधुर भार कर रहा अजान पराजित,
> वृद्ध हो रही हो तुम प्रतिदिन नहीं हो रहीं विकसित।
>
> (कला के प्रति)

यह एक तीखा सत्य था जिसको सौभाग्य से उन्होंने शीघ्र ही प्राप्त कर लिया, अन्यथा महादेवी वर्मा और रामकुमार जैसे अन्य सौन्दर्य-कवियों की भाँति उनको भी अभिव्यक्ति का कोई दूसरा मार्ग टटोलना पड़ता। अमूर्त सौन्दर्याभावना जो जीवन के उपभोग से पोषण-सामग्री ग्रहण नहीं करती, एक विशेष सीमा पर जाकर रुक जाती है—कुछ समय के उपरान्त जैसे वह अपनी सूक्ष्मताओं की जाली में उलझ कर गति-बद्ध हो जाती है। पन्तजी को भी अपनी बारीकियों से अरुचि होने लगी और उनकी कविता विकास के लिए—जीवन के सम्पर्क में आने के लिए व्याकुल हो उठी।

परन्तु पन्तजी का प्रत्यक्ष जीवन से सीधा संसर्ग नहीं था, अतएव उन जैसे कवि का केवल मानसिक (बौद्धिक) विकास ही सम्भव हो सकता था—और वह हुआ भी। मैं पूर्वार्ध में निवेदन कर चुका हूँ कि किस प्रकार उनकी विचारधारा का क्रमिक विकास हुआ और ज्योत्स्ना तथा युगान्त में आकर उनका मानववाद पुष्ट हो गया। परन्तु युग-जीवन की गति आज तीव्र हो गई है और मानववाद भी उसके लिए आउट आफ डेट होगया है। निदान पन्तजी की चिर चेतन मेधा गाँधीजी के विकसित मानववाद को छोड़ मार्क्सवाद पर मुग्ध हो गई। पश्चिम के प्रगतिवाद का उनके मन पर प्रभाव पड़ा और स्वभाव से सूक्ष्म सौन्दर्य-ग्राही होते हुए भी वे उसके भौतिक सत्यों को आग्रह-पूर्वक पकड़ने लगे।

आज हिंदी-प्रगतिवादी कवियों में पंतजी सृजन और निर्माण के कवि हैं—श्री शिवदानसिंहजी ने उन्हें भविष्य का कवि कहा है। स्वयं पन्तजी को भी इस बात की चेतना है:—

(१) तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार।

(२) अब मानव गौरव पर विस्मित; मैं भावी मनुजत्व पर !

(३) कल्पना पुत्र मैं, भावी-द्रष्टा, निराधार !

उनकी यह भविष्य-सृष्टि विकास की उसी परम्परा में आती है जिसकी ओर मैं अभी संकेत कर चुका हूँ। कवि की पलायन-वृत्ति अपने को तीन रूपों में व्यक्त करती है—१—एकांत सौन्दर्य-साधना में, २—पुरातन के पुनरोत्थान में, ३—भविष्य की सृष्टि में। पलायन का मूल है अपने में वर्तमान विषमताओं के समाधान की शक्ति का अभाव देखना—अर्थात् इससे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेना, अतएव पलायन शील व्यक्ति अपनी तुष्टि के लिए उपर्युक्त तीन मार्गों का ही अवलम्बन करता है। पहले में वह एक पूर्ण कल्पना-लोक की सृष्टि कर इन विषमताओं पर विजय प्राप्त करता है, दूसरे में पूर्ण पुरातन की शरण लेता है, और तीसरे में एक ऐसे आदर्श लोक की मानसी सृष्टि करता है जिसमें यह सब हो ही न। वास्तव में इन तीनों की मूल चेतना में ऐस्केप के साथ साथ एक आदर्शवाद लगा हुआ है। संसार के सभी भाव-कोमल कवियों ने ऐसा किया है—शैली, कीट्स, ब्रिजेज, येट्स, डी ला मेयर आदि विदेशी कवियों के उदाहरण सहज प्राप्त हैं। ज्योत्स्ना में हम देख चुके हैं कि पन्तजी ने किस प्रकार शैली की भाँति विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सहारे पूर्ण भविष्यत की कल्पना की थी—वही आज मार्क्स के सिद्धान्तों में ढलकर—ईषत् भिन्न रूप में हमारे सामने है। पहले में कल्पना और भावुकता थी, दूसरे में भौतिकता और विवेक है। परन्तु हमें न भूलना चाहिए कि है यह भी पन्तजी की आदर्श भावना (idealism) का एक रूप।

दो उद्धरण लीजिए : "जिस प्रकार यह (पृथ्वी) बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आनन्द, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह धरा का विश्व-चक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट्

शक्ति के नियमों से सञ्चालित है। मानव जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा।" (ज्योत्स्ना)

"मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत युगों का अन्धकार।
हों शान्त जाति-विद्वेष, वर्ग-गत रक्त समर
हों शान्त युगों के प्रेत, मुक्त मानव अन्तर।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों; सहृदय सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव,—हो जीवन-निर्माण-काज।
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग जीवन का घर
नव मानव को दो प्रभु; भव मानवता का वर।

इन दोनों में मूलतत्त्व का अन्तर नहीं है—पहले में आत्मा की एकता, दूसरे में भव-मानवता पर जोर है—बस!

शैली के विषय में भी यही बात है। युगवाणी और ग्राम्या की निर्लिप्त बौद्धिक शैली भी पन्तजी की काव्य-परम्परा की ही एक कड़ी है—वह कोई अप्रत्याशित परिवर्तन नहीं है। हम देख चुके हैं कि पन्तजी का चिन्तन आरम्भ से ही अनुभूति की चिनगारी पर जल छिड़कता रहा है। पल्लव के उपरान्त उनकी शैली का भावोच्छ्वास क्षीण होता गया है और चिंतन क्रमशः सघन—युगान्त तक आते-आते उनकी शैली चिंतन-विगलित और काफी ठण्डी हो गई थी। इस प्रकार युगवाणी के गीत गद्य और उसके उपरान्त ग्राम्या की आलोचनात्मक कविता के लिए पहले से ही भूमि तैयार थी। बस आध्यात्मिक चिंतन और भौतिक स्थूलवाद दोनों ने मिल कर वर्तमान मूर्त-बौद्धिक शैली को जन्म दिया

और आज की आलोचना-प्रधान शैली के मूल में वही वर्धमान चिंतन तत्व है।

अन्त में, पन्तजी की मेधा की सक्रिय शक्ति देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। परन्तु इतना अवश्य मन में आता है कि उनकी निरन्तर प्रगतिशील प्रतिभा अभी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकी। वह आगे को बढ़ती जाती है, परन्तु उसमें गति के साथ वाञ्छित पुष्टता का अभाव है। गति में बल है, परन्तु स्थिति में दृढ़ता है, जब इन दोनों का संयोग हो जाता है तभी व्यक्ति महत्तत्व को प्राप्त करता है। यह प्राप्ति चिंतन और विचार के साथ ही भोग और अनुभव के आश्रित है। पन्तजी के व्यक्तित्व का पहला अङ्ग जितना बलवान है, दूसरा उतना ही दुर्बल; अतएव प्राप्ति अभी उनसे दूर ही है और उसी अनुपात से महत्तत्व भी। फिर भी हमारे वर्तमान के निर्माताओं में उनका गौरव अद्वितीय है—एक ही व्यक्ति ने अपने अल्पकाल में साहित्य की गति को दो बार, दो विभिन्न दिशाओं में मोड़ दिया हो—ऐसा दूसरा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।



मुद्रक—साहित्य-प्रेस, आगरा।

विचार—

अतिशय भाव-सौकुमार्य ——> ——> ——>
(पलायन) → सौन्दर्य्य-साधना → अन्तर्मुखी वृत्ति

अपनी मधुरता का मोह
| प्रतिक्रिया
V
मानववाद | —> काल्पनिक समाजवाद (आदर्शवाद) भविष्य
मार्क्सवाद V भौतिक आदर्शवाद—भविष्य

शैली—

सुकुमार अनुभूति ——>
(वीणा)
| भाव-प्रवणता (ग्रंथि, पल्लव)
V ——> ——> ——> ——>

चिन्तन:—१–गुञ्जन (सौन्दर्य-चिंतन) २–ज्योत्स्ना (दार्शनिक चिंतन) ३–युगान्त (आध्यात्मिक-चिंतन) ४–युगवाणी (भौतिक-चिंतन) ५–ग्राम्या (भौतिक-विवेचन)